विक्रमाङ्कदेवचरितम् का सांस्कृतिक अनुशीलन्

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की

डी०फिल्० उपाधि हेतु

प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

निर्देशिका

डॉ० (श्रीमती) मञ्जुला जायसवाल
(रीडर) सस्कृत विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रस्तोता

अनिल कुमार त्रिपाठी

संस्कृत-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

2002

समर्पणम्

त्वदीयं वस्तु शोधं मे

गुरो तुभ्यं समर्पये।

स्वीकुरु हर्षितो भूत्वा

प्रबन्धं नवकल्पितम् ॥

विक्रमाङ्कदेवचरितम् का सांस्कृतिक अनुशीलन–

प्रथम अध्याय– १–११

- सस्कृतवाड्मय मे ऐतिहासिक महाकाव्य
  - इतिवृत्त प्रधान महाकाव्य
  - भाव प्रधान महाकाव्य
  - अलङ्कार प्रधान महाकाव्य
  - इतिहास प्रधान महाकाव्य
- ऐतिहासिक महाकाव्यो के लेखन की परपरा (उद्भव और विकास)
- ऐतिहासिक महाकाव्यो का वैशिष्ट्य

द्वितीय अध्याय– १२–४६

- विक्रमाङ्कदेवचरितम्
  - चालुक्य वश का ऐतिहासिक पर्यवेक्षण
  - भारतीय इतिहास मे विक्रमादित्य/विक्रमाङ्कदेव
  - विक्रमाङ्कदेवचरितम् का सामान्य परिचय
  - विक्रमाङ्कदेवचरितम् का महाकाव्यत्व
  - विक्रमाङ्कदेवचरितम् का कथानक
  - कर्त्ता का समय व जीवन परिचय
  - बिल्हण की रचनाएँ
  - प्रकाशन सस्करण
  - जीवन परिचय
  - काव्य का कलापक्ष

- प्रमुख रस
- अङ्गरस
- अलङ्कार
- छन्द

तृतीय अध्याय– ५०–७८

- विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे वर्णित समाज का गठन
    - वर्ण व्यवस्था
        - ब्राह्मण
        - क्षत्रिय
        - वैश्य
        - दास–दासियॉ
    - आश्रम व्यवस्था
        - परिवार का स्वरूप
    - विवाह
        - स्वयवर प्रथा
        - बहु–विवाह प्रथा
    - समाज मे नारी का स्थान
    - मनोरजन
        - सगीत
        - खेलकूद
    - वाहन
        - बैलगाडी
        - अश्व
        - हाथी

- सामाजिक विश्वास
    - सल्लेखन कर्म
    - जलाभिसिञ्चन
    - आत्मोंत्सर्ग
    - सती प्रथा

चतुर्थ अध्याय– ७६–१०१

- कृषि
    - सिचाई के साधन
    - पशुपालन– अश्व, हाथी, कपि, शुक, कुक्कुट, रासभ
- व्यापार
    - हाथी दात की बनी व्यापारिक वस्तुएँ
    - स्वर्ण व्यापार
    - मिट्टी का तेल
    - वस्तु–विक्रय प्रणाली
    - व्यापारिक फसले
    - कर्पूर
    - द्राक्षा
    - कुमकुम
    - उद्योग
    - मुद्रा
    - माप–तौल प्रणाली
    - कर

पञ्चम् अध्याय– १०२–१४६

- राजनीतिक दशा
    - राजनीति

- राजनीतिक स्थिति
- राजा
    - राज परिवार मे शिक्षा–दीक्षा
    - राज्याभिषेक
    - सामन्त राजा
    - राजा के कर्त्तव्य
    - राज्य की स्थिति
- मत्री
- राजगुरू, कुल पुरोहित
- कानून और न्याय
- दुर्ग
- प्राचीर
- गुप्तचर
- युद्ध प्रणाली
    - शस्त्र–अस्त्र
    - तलवार
    - धनुषबाण
    - गडासा
    - गुलेल
- युद्ध की शैली
- युद्ध की नीति
- सेना
    - सेना के गुण
    - हस्ति सेना
    - अश्व सेना

- युद्ध वाद्य
- दूत

षष्ठ अध्याय– १४७–१६७

- धर्म
    - दान
    - तीर्थस्थल
    - यज्ञ
    - यज्ञवाट या यज्ञशाला
    - यजमान
    - अवश्मेध यज्ञ
    - यज्ञ के पश्चात् दान
    - गो–दान
    - बलिकर्म
    - तप–महातप
    - तपस्वी
    - पूजा विधि
- दर्शन
    - शैवमत
    - शाक्तमत
    - वैष्णवमत
    - जैनमत और बौद्धमत
    - बौद्ध दर्शन

सप्तम अध्याय– १६८–१८६

- शिक्षा एव कला
    - शिक्षा केन्द्र

- पाठशाला
  - शिष्य वृत्ति
  - गुरू
  - आचार्य
  - कुलपति
  - भाषा और साहित्य
  - शिक्षा का उद्देश्य
- कला
  - सगीत कला
  - गाधर्व कला
  - वाद्य
  - चमडे से निर्मित वाद्य
  - हवा की फूँक से बजने वाले वाद्य
  - नृत्य
  - नर्तक
  - सगीत की सर्वव्यापकता
- स्थापत्य कला
  - मदिर
  - वास्तुकला और प्रतिमाए
- जडाई की कला

परिशिष्ट १६०—२०६

सहायकग्रन्थनामानि २१०—२११

चालुक्य वंश की वंशावली २१२
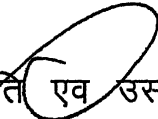
आत्म–निवेदन

सर्वप्रथम इस शोध प्रबन्ध की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिए वाग्देवी एव पूज्याभिपूज्या मॉ स्वर्गीया श्रीमती प्रभू देवी के चरणो मे सादर नमन करता हूँ। प्रस्तुत शोध–विषय का चयन मेरे विद्यार्थी जीवन मे बिल्हण के उत्तर भारत से लेकर दक्षिण भारत तक की यात्राओ तथा यात्रा के समय स्वानुभूत तथ्यो की मनोरम झॉकी, जो विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे मिलती है। उसके सम्पूर्ण सास्कृतिक परिवेश के विषय मे उपजी जिज्ञासा का प्रतिफल है। परास्नातकीय कक्षा मे पढते समय एकदा परमश्रद्धेया प्रो० श्रीमती ज्ञानदेवी श्रीवास्तव के द्वारा इस ग्रन्थ के विषय मे सुनने पर तथा कालान्तर मे इस ऐतिहासिक महाकाव्य के किञ्चित् अध्ययन से ही प्रस्तुत ग्रन्थ पर शोध करने की दृढ इच्छा हुई और मैने बलवती होती इच्छाशक्ति के प्रभाववश शोधकार्य करने का निश्चय किया था। इस महाकाव्य के साहित्यिक अनुशीलन की प्रेरणा तो सम्मान्या श्रीमती ज्ञानदेवी श्रीवास्तव से प्राप्त हुई थी, लेकिन प्रस्तुत महाकाव्य के सास्कृतिक अनुशीलन की प्रेरणा सस्कृत, पालि, प्राकृत प्राच्यभाषा, वेद एव अवेस्ता के उद्भट विद्वान एव वेद–विदग्ध प्रो० एव पूर्व विभागाध्यक्ष श्री हरिशङ्कर त्रिपाठी जी की अहैतुकी प्रेरणा से ही सम्भव हुआ। पूज्यपाद गुरुवर्य जी ने बताया कि साहित्यिक की अपेक्षा सास्कृतिक अनुशीलन सर्वथा मृग्य विषय होगा। एतद्विषयक पारस्परिक विचार–विमर्श के पश्चात् विक्रमाङ्कदेवचरितम् का सांस्कृतिक अनुशीलन मेरा शोध विषय निर्धारित होने पर वन्दनीय, साक्षात् ज्ञानस्वरूपा, विशेषणातीत श्रीमती डॉ० मञ्जुला जायसवाल जी ने मेरे पथ–प्रदर्शन का गुरुतर भार स्वीकार कर मुझे शोध–कार्य करने हेतु अभिप्रेरणा

प्रदान की। आपमे कठिन परिश्रम करने तथा कराने की अद्भुत सहज क्षमता के अतिरिक्त मैने उस प्रज्ञा–ज्योति के दर्शन किये, जिससे मेरे शोध मार्ग मे आया तिमिर सरलतया दूर होता गया। शोध कार्य करते समय प्रौढ शोध दृष्टि का अभाव होने पर निर्देशिका जी की नूतन दृष्टि प्राप्त होने पर शोध–कार्य हेतु प्रेरित हुआ।

प्रकृत शोध–प्रबन्ध मे सास्कृतिक पर्यवेक्षण का विस्तारपूर्वक यथासम्भव वर्णन करने का प्रयास किया गया है। विवेचनक्रम मे जिन बिन्दुओ का उद्घाटन नहीं हो पाया है, उनको प्रश्न रूप मे करणीय बताकर छोड दिया गया है।

शोध प्रबन्ध का कलेवर सात अध्यायो वाला है–

इसके प्रथमाध्याय मे ऐतिहासिक महाकाव्य की वस्तु–स्थिति एव उसके प्रकृत्या विभाजन आदि पर विचार किया गया है। इसके पश्चात् ऐतिहासिक महाकाव्यो के लेखन की परम्परा तथा उनके उद्भव और विकास पर सम्यक् रूपेण विचार किया गया है। ऐतिहासिक महाकाव्यो के विकास की परम्परा को आद्योपान्त अवलोकन करने के उपरान्त महाकाव्यो के वैशिष्ट्य पर प्रकाश डाला गया है।

इसके द्वितीयाध्याय मे विक्रमाङ्कदेवचरितम् का एक सिहावलोकन दिया गया है। इसके पश्चात् इसमे इस ग्रन्थ का सम्यक् ऐतिहासिक पर्यवेक्षण करते हुए भारतीय इतिहास मे कितने विक्रमादित्य हुए है। उन पर सम्पूर्ण उपलब्ध तथ्यो को विश्लेषित किया गया है। ग्रन्थ का सामान्य परिचय देते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ के महाकाव्यत्व का परीक्षण किया गया है। इसके कथानक का सार देते हुए इसके कर्त्ता के विषय मे उनका जीवन परिचय, उनकी कालावधि समय तथा कृतित्त्व दिया गया है। द्वितीयाध्याय के अन्त मे काव्य के कलापक्ष पर यत्किञ्चित् प्रकाश डाला

गया है।

तृतीयाध्याय मे विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे वर्णित समाज की स्थिति तथा उसके अन्तर्गत आने वाली आश्रम व्यवस्था का वर्णन किया गया है। वर्णव्यवस्था का स्वरूप तथा उसकी सामाजिक स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। परिवार का स्वरूप, पारिवारिक ढॉचा तथा उसके बन्धनो को साक्ष्यो के साथ रखा गया है। वैवाहिक व्यवस्था, समाज मे नारी का स्थान, मनोरजन, आवागमन हेतु वाहन व उनका महत्व बताया गया है। इस अध्याय के अन्त मे सामाजिक विश्वास की स्थिति को पूर्वतन तथा अधुनातन परिप्रेक्ष्य मे देखने का प्रयास किया गया है।

चतुर्थोध्याय में ग्यारहवी शताब्दी मे आर्थिक ढॉचा एव उसकी सरचना के प्रमुख आधारो पर प्रकाश डाला गया है। जैसे–आर्थिक दशा, अर्थोपार्जन के साधन, कृषि, पशुपालन, व्यापार, व्यापारिक फसले, उद्योग, मुद्रा, क्रय–विक्रय, मापतौल तथा अन्त मे कर प्रणाली के बारे मे उपलब्ध सम्पूर्ण अभिलेखीय तथा साहित्यिक साक्ष्यो के आधार पर वर्णन किया गया है।

पञ्चमोध्याय मे ग्रन्थ का मुख्यवर्ण्य–विषय 'राजनैतिक दशा' का वर्णन किया गया है, जिसमे राजा, मत्री, कोष, दुर्ग, गुप्तचर युद्ध, युद्ध प्रणाली, अस्त्र–शस्त्र, युद्ध की शैली, युद्धक नीति, सेना तथा दूत का वर्णन किया गया है।

षष्ठाध्याय मे धर्म के विषय मे– ग्यारहवी शताब्दी मे कल्याणी के चालुक्यो के धर्मानुकरण तथा समसामयिक परिप्रेक्ष्य मे अन्य धर्मो की सामाजिक स्थिति आदि का वर्णन किया गया। विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे धर्म सम्बन्धी सामग्री पर्याप्त रूप मे नही प्राप्त होती। अतः इस अध्याय के सम्यक् विवेचन हेतु अभिलेखो से विशेष सहायता

ली गयी है।

सप्तमोध्याय मे शिक्षा की व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए कला के विकास पर प्रकाश डाला गया है। स्थापत्यकला, वास्तु कला, मूर्ति कला एव जडाई की कला की स्थिति का विवेचन किया गया है।

शोध–प्रबन्ध के अन्त मे विक्रमाङ्कदेवचरितम् के नायक राजा विक्रमाङ्कदित्य षष्टम् की सम्पूर्ण जानकारी के लिए कल्याणी के चालुक्य वश की वशावली का समग्र चित्र प्रस्तुत किया गया है, जिससे सुधी जनो को ग्रन्थाध्ययन करते समय सरलतया ऐतिहासिक विवरण उपलब्ध रहे और कवि–वर्णन सङ्गत तरीके से समझा जा सके। प्रकृत शोध प्रबन्ध मे त्वरित बोधगम्यता के लिए ग्रन्थो के नाम अध्याय के अन्त मे न देकर सङ्केतस्थल के पृष्ठ पर ही दे दिये गये हैं, साथ–साथ उसकी स्पष्टता का प्रयास भी किया गया है। अपने विचारो की अभिव्यक्ति मे स्पष्टता तथा सरलता पर ध्यान दिया गया है।

जहॉ तक मौलिकता का प्रश्न है, प्रकृत शोध–प्रबन्ध मे प्रथम अध्याय से सप्तम अध्याय तक जो भी विश्लेषण प्रस्तुत किये गये है, वे सभी आत्मविश्लेषण पर आधारित तथा मौलिक हैं। यद्यपि तत्कालीन सास्कृतिक पृष्ठभूमि के परिज्ञान हेतु विक्रमाङ्कदेवचरितम् अपर्याप्त स्रोत है, अत एव भारतीय इतिहास तथा अभिलेखीय अध्ययन के माध्यम से ग्यारहवी शताब्दी के दक्षिण भारत के सास्कृतिक परिवेश को सम्पूर्ण भारत के सांस्कृतिक परिवेश के आलोक मे देखने का प्रयत्न किया गया है।

इस शोध–प्रबन्ध–महामाला के लिए मोतियो को सज्जित करने की क्रिया मे उनके पारस्परिक महत्व को समझ कर उनका विषयगत स्थान निर्देश करने में

वन्दनीय परमश्रद्धेया डॉ० मञ्जुला जायसवाल जी ने अपने ज्ञान और व्यक्तित्व–प्रकाश से जिस प्रकार मेरा अन्धतम् मार्ग आलोकित किया, उसके लिए मेरे जीवन की श्रद्धा उनके चरणो मे समर्पित है। मेरे अभिलषित विषय के आदि से लेकर अन्त तक का सम्पूर्ण मार्ग उनकी कृपा प्रभा से भासित है। वैसे शोध मे प्रवेश की समस्या जो कि स्वाभाविक तौर पर नये विद्यार्थी के समक्ष आती है, वह मेरे समक्ष भी आयी, लेकिन शोध करने की विधि तथा उसके क्रमश आने वाले सोपानो का ज्ञान समय–समय पर गुरुवर्या द्वारा प्राप्त होने पर परिश्रम करने मे आनन्द आने लगा। यद्यपि इस ग्रन्थ मे सम्पूर्ण सास्कृतिक सामग्री नही है तथापि ऐतिहासिक ग्रन्थो के अध्ययन से यह समस्या भी हल हो गयी।

शोध निर्देशिका के अतिरिक्त शोध–प्रबन्ध को पूर्ण करने मे जिन गुरुजनो का आशीर्वादपूर्ण सहयोग रहा है, उनमे डॉ० एच०एन० दुबे, रीडर, प्राचीन इतिहास विभाग, प्रो० ज्ञानदेवी श्रीवास्तव, पूर्व विभागाध्यक्ष सस्कृत विभाग, प० हरिभजनमणि त्रिपाठी जी (जिनको विज्जनो द्वारा आधुनिक भारद्वाज कहा जाता है), स्थायी सदस्य विश्वविद्यालय कार्यपरिषद सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय, वाराणसी, वर्तमान विभागाध्यक्ष, प्रो० मृदुला त्रिपाठी आदि के प्रति तथा उन सभी गुरुजनो के प्रति जिन्होने परोक्ष या अपरोक्ष रूप से शोध कार्य मे सहयोग दिया, उनकी अनुकम्पा के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना अपना पावन कर्त्तव्य समझता हूँ।

शोध प्रबन्ध के लेखन मे पुस्तकालय सम्बन्धी सहायता मे सर्वाधिक उपयोगी रहा डॉ० गङ्गानाथ झा केन्द्रीय विद्यापीठ, इलाहाबाद। इसके अतिरिक्त इलाहाबाद विश्वविद्यालय का पुस्तकालय तथा बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, के पुस्तकालय से

भी आवश्यक सामग्री प्राप्त हुई।

अपने कुटुम्बीजनो एव मित्रो का भी आभारी हूँ, जिन्होने शोध–प्रबन्ध को पूरा करने मे मेरी सहायता की है। प्राचीन ऋषियो की मान्यता है कि, पिता के प्रसन्न होने पर सभी देवता प्रसन्न हो जाते है,– ("पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्वदेवता ।") और मैने तो इसका अनुभव भी किया है क्योकि ये उनका आशीर्वाद ही है कि मैं जब भी किसी लक्ष्य के प्रति समर्पित होना चाहा हूँ तो वो सारे काम सरलतम् ढग से अनायास ही सिद्ध होते दिखे जिन्हे अनेकानेक प्रयासो के बाद भी सिद्ध नही किया जा सकता था। मुझे शैशवकाल से ही प्रात स्मरणीय पूज्य पिता श्री का वरदहस्त प्राप्त है। उनके निर्व्याज स्नेह व आशीर्वाद से ही यह कार्य सम्पन्न हुआ है। परमात्मा उन्हे दीर्घायुष्य प्रदान करे। पिताजी श्री कृष्णदेव जी के अतिरिक्त मातृसम् पूज्या अग्रजाद्वय (दोनो दीदी) ने तथा अग्रज ने निरन्तर प्रेरणा दी।

यहाँ पर कतिपय सस्कृतवाङ्मयानुरागी तथा चिकित्सा एव विधि आदि क्षेत्रो के विशेषज्ञो के प्रति आभार ज्ञापन करना आवश्यक समझता हूँ, जिन्होने शोध कार्य करते समय अपने विशिष्ट सस्कृत अनुराग के कारण मुझे समय–समय पर गम्भीर साहित्यिक चिन्तन से लाभान्वित किया तथा शोध योग्य सामग्री उपलब्ध कराई। उनमे डॉ० आर०पी० पाण्डेय, श्री अशोक नाथ त्रिपाठी तथा श्री विकास पाण्डेय जी विशेष रूपेण उल्लेखनीय है।

मै अपने उन मित्रो के प्रति भी समादरभावेन कृतज्ञता ज्ञापन करना चाहता हूँ जिन्होने अपने व्यस्ततम् समय मे से समय निकालकर अपना अमूल्य समय मेरे इस गुरुतर कार्य के सम्पन्नार्थ दिया। इनमे श्री सजीव कुमार पाण्डेय जी, श्री आनन्द

कुमार सिह जी, श्री विनयकृष्ण पाण्डेय जी तथा अन्य इत्यसम् समादरणीय जनो का हार्दिक नमन करता हूँ, अपनी सम्पूर्ण शक्ति से समर्पित सेवाये देने के लिए विनीत एव उत्साही अनुजसम् अतुल द्विवेदी, सूरज शुक्ल, प्रवीण त्रिपाठी तथा अनुराग तिवारी को मनस्वी तथा तेजस्वी होने का आशीर्वाद देता हूँ।

पुनश्च, प्रत्यक्ष सहयोगी शुभेच्छुओ के अतिरिक्त कतिपय अन्य प्रियैषुओ को भी यहॉ स्मरण करना प्रासङ्गिक है, जिन्होने शोध–सामग्री उपलब्ध कराने मे तो नही लेकिन अपने स्नेहिल सहयोग, जिससे मैं अधिकाधिक समय अपने शोध–प्रबन्ध को दे सका और मुझे उनकी ईश्वर से की गई कामनाए सम्बल बनकर प्रेरित करती रही, उनके सुखमय भविष्य की मैं कामना करता हूँ। समस्त प्रयत्नो के बाद भी अपनी मन्दमति के कारण मुझसे यहॉ पर यदि विश्लेषण करते समय सास्कृतिक परिधि का अनपेक्षित उल्लघन हो गया हो तो उसे अन्यथा न लेकर उदारचेता विद्वान् उसका शोधन करने की कृपा करे, एतदर्थ कुछ परिवर्तन के शब्दो मे कहने का साहस कर रहा हूँ–

प्रयोग–सिद्धान्तविरूद्धमत्र यत्किञ्चिदुक्त मतिमान्द्यदोषात्।
मात्सर्यमुत्सार्य उदारचेत्ता प्रसादमाधाय समादधन्तु।।

❑ ❑ ❑

गच्छत स्खलन क्वापि भवत्येव प्रमादत।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जना।।

विनयावनत्
अनिल कुमार त्रिपाठी
अनिल कुमार त्रिपाठी

प्रथम अध्याय

१. संस्कृत वाङ्मय में ऐतिहासिक महाकाव्य

२. ऐतिहासिक महाकाव्यों के लेखन की परंपरा (उद्भव और विकास)

३. ऐतिहासिक महाकाव्यों का वैशिष्ट्य

संस्कृत वाङ्मय में ऐतिहासिक महाकाव्य

काव्य शब्द की उत्पत्ति 'कवि' शब्द से 'ण्यत्' प्रत्यय पूर्वक हुई है जिसका अर्थ ऋषि या कवि के गुणो से युक्त या मत्रद्रष्टाविषयक या पैगम्बरी प्रेरणा–प्राप्त है। मानव के अन्तस्तल मे क्षण–क्षण मे उत्पन्न होने वाले भावो के निरीक्षण तथा अभिव्यञ्जन मे जिस कवि की वाणी रमती है वही सच्चा कवि होता है। वाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा भीतरी सौन्दर्य के वर्णन मे कवि के कवित्व का सच्चा परिचय मिलता है। बाहरी सौन्दर्य भीतरी सौन्दर्य की तुलना मे स्थिर, निष्प्राण और अपरिवर्तनीय है। आकाश चिरकाल से जैसा नीला था वैसा ही नीला है। बीच–बीच मे वर्षा आदि के अवसर पर उसका वर्ण धूसर या कृष्ण हो जाता है, तथापि उसका स्वाभाविक रग नीला ही है। समुद्र तथा नदियो का साधारण आकार तरगो से परिपूर्ण होने पर भी एक ही प्रकार का है, परन्तु मनुष्य का ह्रदय नितान्त परिवर्तनशील होता है। उसमे घृणा भक्ति का रूप धारण कर लेती है, अनुकम्पा से प्रेम की उत्पत्ति हो जाती है और प्रतिहिसा से कृतज्ञता का जन्म होता है। जो कवि इस अन्तर्जगत् की विचित्रता के रहस्य को खोलकर दिखाता है वही यथार्थ मे कवि के नाम से पुकारा जा सकता है।

सस्कृत आलोचनाशास्त्र 'विदग्ध' तथा 'विद्वान्' मे पर्याप्त पार्थक्य स्वीकार करता है। 'विद्वान्' की दृष्टि काव्य के केवल बाहरी चाक्चिक्य और अलङ्कारो की सज्जा पर ही जमती है, परन्तु 'विदग्ध' काव्य के अन्तस्तल को परखता है और वह रसपेशल कविता के मर्म को पहचानता है। प्राचीनकाल मे विदग्धता का प्राधान्य था परन्तु कालक्रम से विद्वता का ही मान तथा आदर बढ़ने लगा। फलत कविजन

इन्ही को काव्य का एक मात्र साधन मानने लगे। रस के उन्मीलन के स्थान पर अलङ्कार द्वारा प्रसाधन ही कवि कर्म की प्रधान कसौटी बन गया। आलङ्कारिको ने इस परिवर्तित मनोवृत्ति को और भी विकृत तथा विपर्यस्त बना दिया।

सस्कृत भाषा निसर्गत बडी ही कोमल तथा मधुर है। प्रतिभा सम्पन्न कवि के हाथ मे पडकर उसमे भाव प्रकाशन की अद्‌भुत क्षमता उत्पन्न हो जाती है। भावो की सूक्ष्मता के और मनोविकारो की अन्तरङ्ग व्यापकता के प्रकाशन मे सस्कृत भाषा नितान्त समर्थ तथा सक्षम है। शब्द का सौष्ठव तथा पदावली का मधुमय विन्यास, पदो की कोमल शय्या सस्कृत जैसी सश्लिष्ट भाषा मे जितनी सुन्दरता के साथ निबद्ध किये जा सकते हैं, उतनी रुचिरता से किसी भी अन्य विश्लेष–प्रधान भाषा मे नही।

वर्ण्य–विषय के विकास की दृष्टि से समस्त महाकाव्यो को हम चार वर्गों मे वर्गीकृत कर सकते हैं–

१ इतिवृत्त प्रधान महाकाव्य,
२ भाव प्रधान महाकाव्य,
३ अलङ्कार प्रधान महाकाव्य तथा
४ इतिहास प्रधान महाकाव्य।

१. इतिवृत्त प्रधान महाकाव्य–

जिसमे कथानक की प्रधानता हो अर्थात् काव्य के अन्य अङ्गो रस, अलकारादि की अपेक्षा कथा के विकास मे कवि ने अपनी प्रतिभा का अधिक उपयोग किया हो तथा उसमे नये मोड दिये हो, वह इतिवृत्त प्रधान महाकाव्य होता है।

२. भाव प्रधान महाकाव्य–

सस्कृत साहित्य मे कुछ ऐसे भी काव्यो की सर्जना हुई, जिनमे भावो, अनुभूतियो तथा मानसिक संवेदनाओ की प्रधान रूप से व्यजना हुई है, ये भाव प्रधान महाकाव्य कहलाते हैं। जैसे–गीतगोविन्दम्।

३. अलङ्कार प्रधान महाकाव्य–

जिस काव्य मे अलङ्कारो की प्रधानता हो, अथवा जो चित्र काव्य की कोटि मे आता हो, वह अलङ्कार प्रधान काव्य होता है। अलङ्कृत शैली का विकटतम् रूप तब प्रकट होता है, जब कवि एक ही प्रबध मे दो–दो नायको की कथा सुनाने को तत्पर हो जाता है तथा कभी–कभी तीन–तीन अर्थ भी एक ही श्लोक मे आदि से अन्त तक निकलता है। जैसे– माघ कृत शिशुपालबधम्, भारवि का किरातार्जुनीयम, भट्टि का भट्टिकाव्य।

४. इतिहास प्रधान महाकाव्य–

जिन काव्यो की रचना इतिहास को केन्द्र मे रखकर उसके इर्द–गिर्द ही होती है तथा जिसका कथानक ऐतिहासिक वशावली से सम्बद्ध होता है, वह ऐतिहासिक या इतिहास प्रधान महाकाव्य होता है। जैसे–राजतरगिणी, हर्षचरित आदि।

ऐतिहासिक महाकाव्यों के लेखन की परंपरा (उद्भव और विकास)–

लोगो मे एक धारणा सी फैली हुई है कि भारत वर्ष के साहित्य मे ऐतिहासिक ग्रथो का अस्तित्व नही है। कुछ लोगो का तो यहा तक कहना है कि भारतीय लोग इतिहास से परिचित ही नही थे, परन्तु ये धारणाये नितात निराधार हैं। भारतीय साहित्य मे पुराणो के साथ इतिहास वेद के समकक्ष माना जाता है। ऋक्–सहिता मे ही इतिहास का पुट प्राप्त होता है। छान्दोग्य उपनिषद् मे सनत्कुमार से ब्रह्मविद्या सीखने के समय अपनी अधीत विद्याओ मे नारद मुनि ने "इतिहास–पुराण" को पचम वेद बतलाया है। यास्क ने निरूक्त मे ऋचाओ के विशदीकरण के लिए ब्राह्मण ग्रथ तथा प्राचीन आचार्यों की कथाओ को "इतिहास समाचक्षते" ऐसा कहकर उद्धृत किया है। वेदार्थ के निरूपण करने वाले विभिन्न सम्प्रदायो मे ऐतिहासिको का भी एक अलग सम्प्रदाय था। इसका स्पष्ट परिचय निम्नवत् मिलता है– "इति ऐतिहासिका"। इतना ही नही, वेद के यथार्थ अर्थ को समझने के लिए इतिहास पुराण का अध्ययन आवश्यक बतलाया गया है। व्यास का स्पष्ट कथन है कि वेद का उपवृहण इतिहास और पुराण के द्वारा होना चाहिए, क्योकि इतिहास पुराण से अनभिज्ञ लोगो से वेद सदा भयभीत रहता है। राजशेखर ने उपवेदो में 'इतिहास वेद' को अन्यतम माना है। कौटिल्य की इतिहास कल्पना बडी विशाल, उदात्त एव विस्तृत है। वे सबसे पहले 'इतिहास वेद' की गणना अर्थवेद के साथ करते हैं और इसके अन्तर्गत पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उद्धरण, धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र का अन्तर्भाव मानते हैं। इतने पुष्ट प्रमाणो के रहते हुए भारतीयो को इतिहास की कल्पना से शून्य मानना नितांत अनुचित है। हमारे प्राचीन साहित्य में इतिहास विषयक ग्रन्थ थे, जो अब धीरे–धीरे उपलब्ध हो रहे हैं परन्तु

पाश्चात्य इतिहास कल्पना और हमारी इतिहास कल्पना मे एक अतर है जिसे समझ लेना आवश्यक है। पाश्चात्य इतिहास घटना प्रधान है अर्थात् उसमे युद्ध आदि की घटनाओ का विवरण प्रस्तुत करना मुख्य उद्देश्य रहता है, परन्तु भारतीय कल्पना के अनुसार घटना वैचित्र्य विशेष महत्व नही रखता। हमारे जीवन सुधार से उनका जहा तक लगाव है, वही तक हम उन्हे उपादेय समझते आये हैं।

भारतीय साहित्य मे 'इतिहास' शब्द से प्रधानतया महाभारत का ही बोध होता है और यह बोध होना सर्वथा उचित है। महाभारत कौरवो और पाण्डवो के युगान्तकारी युद्ध का ही सच्चा इतिहास नही है, प्रत्युत् उसे हमारी सस्कृति, समाज, राजनीति तथा धर्म के प्रतिपादक इतिहास होने का गौरव प्राप्त है। यहा इतिहास के अन्तर्गत हम वाल्मीकीय रामायण को भी रखना उचित समझते है। प्रचलित परिपाटी के अनुसार इसे 'आदि महाकाव्य' मानना ही न्याय सगत होगा, परन्तु धार्मिक दृष्टि से उसका गौरव महाभारत से कमतर नही है। रामायण के द्वारा चित्रित भारतीय सभ्यता महाभारत से भी प्राचीन है। रामायण मर्यादा पुरूषोत्तम महाराज रामचन्द्र के जीवन चरित्र को चित्रित करने वाला अनुपम ग्रथ है। रामराज्य की कल्पना जो भारतीय राजनीति मे आदर्श मानी जाती है, महर्षि बाल्मीकि की ही देन है। यह जानना आवश्यक है कि रामायण तथा महाभारत की घटनाये ऐतिहासिक है। ये दोनो महत्वपूर्ण युद्ध इसी भारत वर्ष की सीमा के भीतर लडे गये थे। उन्हे अन्तर्जगत् के धर्म और अधर्म के द्वन्द्व युद्ध का प्रतीक मात्र मान लेना नितात अनुचित है। वैदिक साहित्य मे हम जिस धर्म का सिद्धान्त रूप में दर्शन करते हैं, उसी का व्यावहारिक रूप हमें इन दोनों ग्रन्थो मे उपलब्ध होता है। सच्ची बात तो यह है कि रामायण और महाभारत भारतीय सस्कृति के प्रकाश स्तम्भ हैं, जिनके

प्रकाश से हम अपने वैदिक धर्म के अनेक अधकार से आवृत्त तथ्यों का साक्षात् करने मे समर्थ होते हैं। ये दोनो इतिहास ग्रथ है, परन्तु उस अर्थ मे ये इतिहास ग्रन्थ नही है जिस अर्थ मे समझा जाता है। इतिहास शब्द यहाँ अत्यन्त व्यापक अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

इतिहास का शब्दार्थ ही है– इति–ह्–आस – इस तरह से निश्चय था। इस प्रकार से हमारे प्राचीन धर्म तथा हमारी सभ्यता मे जो कुछ था उसका साङ्गोपाङ्ग वर्णन इन दोनो ग्रन्थो उपलब्ध होता है। इतिहास के द्वारा वेद के अर्थ का उपवृहण होता है, इसका भी यही रहस्य है। वेद का अर्थ तो स्वय सूक्ष्म ठहरा जिसे सूक्ष्म मति वाले लोग भली–भाँति समझ सकते हैं परन्तु इन इतिहास तथा पुराण ग्रन्थो मे हम उसी सूक्ष्म अर्थ का प्रतिपादन जन साधारण के लिए बोधगम्य, सरस तथा सरल भाषा मे पाते हैं। इतिहास और पुराणों में जो सिद्धान्त प्रतिपादित हैं वे सिद्धान्त वेद के ही हैं, इसमें तनिक भी संदेह नही। परन्तु हमे समझने योग्य भाषा मे लिखे जाने के कारण ये हमारे हृदय को अधिक स्पर्श करते है। इस तरह वैदिक सिद्धान्तो के बहुल प्रचारक होने के कारण ही धार्मिक दृष्टि से इन ग्रन्थो का महत्व है।

व्यास ने इतिहास की महत्ता बतलाते हुए इसी बात की ओर सकेत किया है–

इतिहास पुराणाभ्या वेद समुपवृह्यते।
विभेत् यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।।

इतिहास के इसी व्यापक अर्थ का समर्थन राजशेखर की काव्य मीमांसा से भी होता है। राजशेखर का कहना है कि इतिहास दो प्रकार का होता है–

१ परिक्रिया २ पुराकल्प।

'परिक्रिया' से अभिप्राय उस इतिहास से है जिसका नायक एक ही व्यक्ति होता है, जैसे– रामायण।

'पुराकल्प' अनेक नायक वाले इतिहास ग्रन्थ का सूचक है, जैसे– महाभारत।

राजशेखर के अनुसार भी ये दोनो ग्रन्थरत्न 'इतिहास' के ही अन्तर्गत आते हैं। राजशेखर का कथन 'काव्यमीमासा' मे इस प्रकार है–

परिक्रिया पुराकल्प इतिहास गतिर्द्विधा।
स्यादेक–नायका पूर्वा द्वितीया बहुनायका।।

वस्तुत. तिथिक्रम से इतिहास लेखन का प्रारम्भ अशोक के समय से उसके शिलालेखो और अभिलेखो से होता है। तत्पश्चात् ऐतिहासिक विवरण विभिन्न शिलालेखो और अभिलेखों से प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से गुप्तकाल ऐतिहासिक सामग्री प्रदान करने मे सर्वप्रथम है। ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण शिलालेख इस प्रकार हैं।

गिरिनार शिलालेख (१५० ई०), नासिक शिलालेख (१४६ ई०), हरिषेण की प्रयाग प्रशस्ति (३५० ई०), स्कन्दगुप्त का गिरिनार शिलालेख (४५७ ई०), वत्सभट्टि की मदसौर प्रशस्ति (४७३ ई०) आदि। इसमे हरिषेण की कृति प्रयाग प्रशस्ति आदि में ऐतिहासिक तथ्यों के अतिरिक्त काव्यात्मकता स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

ऐतिहासिक काव्यकार के रूप मे अश्वघोष अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इन्होने ही सर्वप्रथम ऐतिहासिक व्यक्ति को लेकर काव्य की रचना की है। अश्वघोष का

'बुद्ध चरित' महात्मा बुद्ध के जीवन को लक्ष्य मे रखकर लिखा गया है।

महाकवि बाणभट्ट ने महाराज हर्ष के जीवन को लेकर 'हर्षचरित' की रचना की है। इसमे प्रारम्भ मे कवि ने अपने वश का तथा अपना जीवनवृत्त दिया है। इसमे हर्ष के पिता प्रभाकर वर्धन से लेकर राज्यश्री की प्राप्ति तक का वर्णन है। इसमे वर्णित ऐतिहासिक तथ्य अन्य साधनो से भी प्रमाणित हो चुके हैं। इसमे भी ऐतिहासिक तथ्यो के वर्णन की अपेक्षा कवित्व की प्रधानता है।

वाक्पति राज (७३० ई० के लगभग) ने 'गउडवहो' (गौडवध) ऐतिहासिक काव्य महाराष्ट्री प्राकृत मे लिखा है। ये कन्नौज के राजा यशोवर्मा के आश्रित कवि थे, ये भवभूति के समकालीन थे। कल्हण ने वाक्पति राज और भवभूति को समकालीन तथा 'यशोवर्मा का आश्रित कवि बताया है।

कवि वाक्पतिराज श्री भव भूत्यादिसेवित ।
जितो भयौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवरिताम्।।[1]

यह अपूर्ण ग्रंथ है। सम्भवत यशोवर्मा की मृत्यु के कारण लेखक ने इसे अधूरा छोड दिया। लेखक ने अपने काव्य के श्लोक ६६ मे 'महुमन विजय' नामक अपनी एक और कृति का उल्लेख किया है किन्तु यह अप्राप्य है। इसमे ऐतिहासिक महत्त्व की बातो का उल्लेख कम है और प्राकृतिक वर्णन आदि विषयो की अधिकता है।

श्री टी० गणपति शास्त्री ने १९२५ ई० मे इस ऐतिहासिक ग्रथ का पता

---

१. राजतरगिणी ४–१४४

लगाया था। इस अज्ञात नामालेखक की रचना की ऐतिहासिकता का निर्णय सर्वप्रथम डॉ० काशी प्रसाद जायसवाल ने किया था। इसकी रचना ८०० ई० के लगभग सिद्ध की गयी है। यह महायान बौद्ध सम्प्रदाय का ग्रथ है। इसमे लगभग ७०० ई० पूर्व से लेकर ७७० ई० तक के सम्राटो का इतिहास दिया गया है।

पद्मगुप्त का समय १००५ ई० के लगभग है, ये धारा के राजा मुन्ज और इनके पुत्र सिन्धुराज (नवसाहसाक) के आश्रित कवि थे। इनका ही नाम परिमल या कालिदास परिमल था। इन्होने १८ सर्गों मे नवसाहसाङ्क चरित नामक ऐतिहासिक काव्य लिखा है। इसमें मालवा के राजा सिन्धुराज नवसाहसाङ्क का चरित वर्णित है। इसमे इतिहास और कवित्व तथा कल्पना का सम्मिश्रण है। अत एव यह ग्रन्थ ऐतिहासिकता की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण सिद्ध नहीं होता। इसमे कवित्व की छटा यथा स्थान अवश्य दृष्टिगोचर होती है।

इसके पश्चात् महाकवि बिल्हण विरचित विक्रमाङ्कदेवचरितम् तथा इसके पश्चात् कल्हण विरचित राजतरगिणी का स्थान आता है। उपर्युक्त दोनो ग्रन्थो मे पर्याप्त ऐतिहासिक साम्रग्री उपलब्ध है तथा ऐतिहासिक महाकाव्यो के विकास की परम्परा मे ये मील का पत्थर सिद्ध हुए है। जहा पर विक्रमाङ्कदेवचरितम् इतिहास और महाकाव्य के सुन्दर समन्वय की झॉकी प्रस्तुत करता है, वही पर कल्हण की राजतरंगिणी को प्रथम ऐतिहासिक ग्रथ होने का गौरव प्राप्त है।

एतदनन्तर ऐतिहासिक लेखन की परम्परा तो चलती रही जिसके अन्तर्गत कल्हण की राजतरगिणी, महाकवि शभु की राजेन्द्रकर्णपूर, जैन मुनि हेमचन्द्राचार्य का कुमारपाल चरित, जल्हण का सोमपाल विजय, जयानक का पृथ्वीराज–विजय,

सन्ध्याकर नन्दी का रामपाल चरित आदि ग्रथ आते हैं। किन्तु विक्रमाङ्कदेव एव राजतरगिणी ये ऐसे महत्वपूर्ण ऐतिहासिक महाकाव्य थे कि इनके विस्तृत महत्व के समक्ष अन्य ग्रथों का महत्व क्षीण सा हो गया। यही कारण है कि विक्रमाङ्कदेवचरितम् एव राजतरगिणी ऐतिहासिक महाकाव्य के रूप मे सर्व प्रसिद्ध हुए।

ऐतिहासिक महाकाव्यों का वैशिष्ट्य–

भारतवर्ष मे ऐतिहासिक काव्यो का प्राय अभाव है। पाश्चात्य विद्वान् ऐतिहासिक ग्रथ से जो भाव लेते हैं, वैसे काव्यो का सस्कृत साहित्य मे अभाव ही समझना चाहिए। पाश्चात्य विद्वानो ने इस विषय मे अनेक विचार व्यक्त किये है। इनमे से कुछ विचार युक्तिसगत है और कुछ अनर्गल प्रलाप ही मानने चाहिए। पाश्चात्य विद्वानो ने ऐसे इतिहास ग्रथो का कारण बताया है कि– भारतवष मे भाग्यवाद की प्रबलता, दैवी शक्तियो पर विश्वास, कर्मफल की अनिवार्यता और ससार की अनित्यता आदि है। वस्तुत ये कारण न होकर कारणाभास ही है। वास्तविकता यह है कि भारतीय विद्वान् इतिहास के तिथिक्रम और विशेष घटनाओ को उतना महत्व नही देते जितना उसके कार्य कलाप, वैयक्तिक जीवन की उत्कृष्टता, नैतिक आदर्श व राष्ट्रीय उन्नति मे योगदान को। इस दृष्टि से राम, कृष्ण, बुद्ध, वाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि के जीवन की तिथियों को महत्व न देकर उनकी भावात्मक विशेषताओ को विशेष रूप से प्रकट किया जाता है। यही कारण है कि हम तिथिक्रम के अनुसार राजाओ, सम्राटो, कवियो और लेखको आदि का विस्तृत्त विवरण नही पाते।

खेद की बात है कि पाश्चात्य विद्वान् जितना वाह्य शरीर के चित्रण पर बल

देते हैं, उतना आतरिक भावो के चित्रण पर नही अर्थात् आतरिक सौन्दर्य पर बल नही देते। जीवन का महत्व किसी वर्ष या तिथि पर उतना निर्भर नही है, जितना उसके कार्य कलाप और नैतिक उत्कर्ष पर है। भारतीय और पाश्चात्य विद्वानो की विचारधारा मे मौलिक अन्तर है।

काव्यात्मक ग्रथ के रूप मे रामायण और महाभारत का स्थान सर्वोपरि है। इनमे मात्र कथानक का उल्लेख है और तिथिक्रम का पूर्णतया अभाव है। इसके पश्चात् पुराणो को ऐतिहासिक ग्रथो की कोटि मे रखा जा सकता है। इनमे वंशावलियॉ आदि ही दी गयी हैं। प्रत्येक राजा का विशद वर्णन इनमे भी अप्राप्य है, किन्तु तिथियो का इसमे भी अभाव है। काव्य के रूप मे अश्वघोष का 'बुद्धचरित' महाकाव्य विशेष उल्लेखनीय है। इसके पश्चात् बाण का 'हर्षचरित' व कल्हण की 'राजतरगिणी' विशेष महत्वपूर्ण है।

रामायण, महाभारत के वर्णन प्रसग मे इतिहास की भारतीय कल्पना का कुछ वर्णन ऊपर किया गया है। इतिहास का आश्रय लेकर काव्य लेखन की परिपाटी सस्कृत साहित्य में नही है। कवियो मे अपने आश्रयदाता की कीर्ति अक्षुण्ण बनाये रखने के विचार से उनका जीवन चरित रोचक भाषा मे लिखने का उद्योग तो किया गया है, परन्तु उनका यह उद्योग शुद्ध साहित्यिक कोटि मे ही आता है, ऐतिहासिक कोटि मे नही, क्योकि वे अपने आश्रयदाता के विषय मे अपेक्षित ऐतिहासिक सामग्री भी देने का प्रयत्न नही करते। गुप्तकाल के कवि 'वत्सभट्टि' ने कतिपय प्रशस्तियॉ ही प्रस्तुत की हैं। बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' लिखकर ऐतिहासिक काव्य के निर्माण का प्रथम अवतार किया, परन्तु महाकाव्य की दृष्टि से 'पद्मगुप्त परिमल' का काव्य प्रथम ऐतिहासिक महाकाव्य कहा जा सकता है।

द्वितीय अध्याय

१. विक्रमाङ्कदेवचरितम्
२. ऐतिहासिक पर्यवेक्षण
३. भारतीय इतिहास में विक्रमादित्य
४. सामान्य परिचय
५. महाकाव्यत्व
६. कथानक
७. कर्त्ता- समय व जीवन परिचय
८. रचनाएं
६. काव्य का कलापक्ष

विक्रमाङ्कदेवचरितम्

इस विक्रमाङ्कदेवचरितम् महाकाव्य के महानायक चालुक्यवशीय विक्रमादित्य षष्ठ है जिनके चरित का एव उनके वश का विस्तृत वर्णन इस महाकाव्य मे हुआ है। चालुक्यराज–अय्यणवशचरित[1] काव्य के अनुसार चालुक्य वश की उत्पत्ति विष्णु से मानी गई है। क्रम से अनेक राजाओ के होने के बाद विजयादित्य नामक राजा हुआ जिसने अपने भाई चित्रकण्ठ से कलह होने के कारण अयोध्या को छोड दिया था। विक्रमाङ्कदेव मे इस तथ्य के स्वय प्रमाण मिलते हैं–

श्रूयता सावधानेन चेतसेम पुरातनम्।

चालुक्यकुल जातानामैतिष्य महदद्भुतम्।।४७।।

विष्णोरशात्समुद्भूतो वशोय वैष्णवो भुवि।

तद्वशजाना नामानि पुण्यानि निगदामि व।।४८।।

श्रीधाग्नो पुरुषोत्तमस्य महतो नारायणस्य प्रभो–

र्नाभीयङ्करुहाद्वभूव जगत स्रष्टा स्वयम्भूस्तत।

जज्ञे मानससूनुरत्रिरिति यस्तस्मान्मुतेरत्रित

सोमो वशकर सुधाशुरुदित श्रीकण्ठचूडामणि।।४६।।

तस्मादासीत्सुधासूतेर्बुधो बुधनुतस्तत।

तत पुरूरवा नाम चक्रवर्ती नृपोत्तम।।५०।।

---

१. विक्रमाङ्कदेवचरितम् भूमिका–विश्वनाथ शास्त्री भारद्वाज

तस्मादायुरायुषोथ नहुष पुण्यपूरूष ।

ततो ययातिस्तस्माच्च पुरूरित्यभिधानवान् । ।५१ । ।

जनमेजयसञ्ज्ञश्च प्राचीशस्तत्सुवस्तथा ।

तस्माज्जात सैन्ययातिस्ततो ह्यपतिस्तत । ।५२ । ।

सार्वभौमस्ततो जातो जयसेन प्रतापवान् ।

महाभौमस्ततो देशानक–क्रोधाननौ क्रमात् । ।५३ । ।

ततो देवकिरित्याख्यस्तत कुमुदनायक ।

तस्मादृक्षक सञ्ज्ञश्च ततो मतिवर पुमान् । ।५४ । ।

कात्यायनस्ततो नीलदुष्यन्तभरता क्रमात् ।

भरताद्धर्मशीलाच्च भूमन्युस्वत्सुतोऽभवत् । ।५५ । ।

तस्मात्सुहोत्रस्तज्जश्च हस्ती तस्माद्विरोचन· ।

तस्मादजामिल इति तस्य सवरण सुत । ।५६ । ।

तस्मात्सुधन्वा जातोऽय तपत्या सूर्यकन्यया ।

तस्मात्परीक्षितस्तस्माद्भीमसेन प्रतापवान् । ।५७ । ।

तत प्रदीपनस्तस्माच्छान्तनु कीर्तिवर्धन· ।

ततो विचित्रवीर्याच्च पाण्डुराजस्ततोऽर्जुन । ।५८ । ।

ततोऽभिमन्युस्तस्माच्च परीक्षित इति श्रुत· ।

जनमेजयनामा च तस्मात्तस्माच्च क्षेमक· । ।५६ । ।

नरवाहनसंज्ञोऽभूद्भारते भूतिमॉस्तत ।

तत शतानीक इति तस्मादुदयनो नृप ।।६०।।

यश पुञ्जप्रभावेण यस्य राज्ञ प्रभावितम्।

भारत भारत जात देवदानवपूजितम्।।६१।।

एकोनषष्टी राजानोऽभवन्नुदयनात्परम्।

ततस्तु विजयादित्य षष्टी सख्यो नृपोऽभवत्।।६२।।

श्री रामचन्द्राद्भुतराजधानी पुरीमयोध्या सुसिषेविरे नृपा ।

स चित्रकठस्य निशम्य बन्धोस्तत्याज शब्दान्निजजन्मभूमिम्।।६३।।

इति श्री चालुक्यराज–अय्यणवशचरिते काव्ये वशपरिचये विष्णोरंशभूत–चन्द्रवशीयत्व वर्णनं नाम प्रथम सर्ग ।

महाकवि बिल्हण ने अपने महाकाव्य के प्रथम सर्ग मे लिखा है कि ब्रह्मा ने इन्द्र की विशिष्ट प्रार्थना से प्रसन्न होकर पृथ्वी पर होने वाले अन्यायो को दूर करने के लिए एक प्रतापी राजा की आवश्यकता समझकर सायकाल–सन्ध्या करते समय अर्घ्य देने के लिए जल से पूरित अपनी अंजुली पर द्वष्टिपात किया जिससे उसमे से एक वीर उत्पन्न हुआ। ब्रह्माजी की अजुली से उत्पन्न होने के सम्बन्ध मे अनेक शिलालेख[1] भी मिलते है।

ऐतिहासिको के कथनानुसार गुप्त साम्राज्य के समाप्त हो जाने पर चालुक्य साम्राज्य का प्रादुर्भाव चार शाखाओ मे हुआ–

१ वातापी के चालुक्य   २ वेगी के चालुक्य

---

१. अनेक शिलालेख–वडनगर का ११५१ ई० का, चित्तौड के किले का तथा खम्भात के कुन्तनाथ के मन्दिर का शिलालेख।

३ कल्याणी के चालुक्य तथा ४ गुर्जर के चालुक्य।

श्री विक्रमादित्य (षष्ठ) कल्याणी चालुक्य वश मे उत्पन्न हुए थे। इस वश के प्राय सभी राजा लोग वीर, विद्यानुरागी, उदार, बडे दानी तथा कट्टर सनातन धर्मावलम्बी आदि सद्गुणो से विभूषित थे। यह बात विक्रमाङ्कदेवचरितम् महाकाव्य से एव अनेक उपलब्ध ताम्रपत्र तथा शिलालेखो से सिद्ध होती है।

कल्याणी के चालुक्य वंश का साम्राज्य दक्षिण भारत मे था यह प्रसिद्ध है परन्तु सबसे पूर्व इस वश का कौन राजा दक्षिण भारत मे गया इसका पता न तो भारत का प्राचीन इतिहास लिखने वालो को लगा, न ही कविराज बिल्हण को था। महाकवि बिल्हण ने अपने महाकाव्य मे 'इस' चालुक्य वश के बारे मे "विजय की इच्छा रखने वाले कुछ राजा लोग सम्पूर्ण जगत् को जीतकर विलासितो के रस मे पडकर, पान की बॅवर से सटकर जहॉ सुपाडी के पेड लगे हैं ऐसी दक्षिण दिशा मे राज्य करने लगे"[१]– इतना ही बतलाया है।

विक्रमादित्य (षष्ठ) का वर्णन करने के ध्येय से लिखे गये इस महाकाव्य मे– 'कौन राजा सर्वप्रथम दक्षिण मे गया', इसका वर्णन न करना किसी प्रकार दोषमुक्त नही कहा जा सकता। किन्तु ऐतिहासिक विद्वानो का इस सम्बन्ध मे कुछ न लिखना उनके शोध मे कुछ शिथिलता अवश्य प्रकट करता है।

चालुक्य वंश का ऐतिहासिक पर्यवेक्षण–

चालुक्य राज–अय्यणवंशचरित नामक हस्तलिखित काव्य मे इसका समय

---

१. चालुक्य राज–अय्यणवंशचरितम् २/१–४२ तक

निर्देश के साथ विस्तृत वर्णन दिया गया है। तद्नुसार सबसे पूर्व अयोध्या से निकलकर दक्षिण भारत मे जाने वाला विजयादित्य नाम का व्यक्ति था। वह अयोध्या के राजा चित्रकण्ठ का छोटा भाई था। अपने भाई के कलह से दु खी होकर वह अयोध्या छोडकर अपनी पत्नी आदि परिवार तथा इष्ट मित्रो के साथ शक १४३ मे दक्षिण मे नर्मदा के तट पर स्थित चावली नामक ग्राम मे आया। यही कल्याणी के चालुक्य वंश का मूल पुरूष है।

शक् १४३ मे दक्षिण भारत मे पल्लव वशीय त्रिलोचन नामक राजा का नर्मदा के दक्षिण मे बडा सुसगठित राज्य था। इस राजा का भी इतिहास ग्रथों में कुछ पता नही चलता। चालुक्य वंशीय विक्रमादित्य नर्मदा तट पर चावली ग्राम मे माहेश्वर मदिर के पास थोडे दिन रहकर नर्मदा पार कर अजन्ता मे आया। वहॉ दान–मानादि से ब्राह्मणो को सतुष्ट कर थोडे समय तक निवास किया। जब पल्लव–वशीय राजा त्रिलोचन की शक्ति तथा पुरूषार्थ की सूचना विजयादित्य को मिली तब वीर होने के कारण उसने दुर्भाग्य से त्रिलोचन राजा के राज्य पर आक्रमण कर दिया। घोर सग्राम में विजयादित्य मारा गया और उसकी गर्भवती रानी को लेकर रानी का भाई भागकर मुडिबेडू नामक ग्राम मे सोमयाजी विष्णुभट्ट[1] नामक तपस्वी ब्राह्मण के शरण में आया। विष्णुभट्ट ने उनको शरण दी। कुछ काल के

१ यदि यह कल्पना किया जाय कि युद्ध मे राजा विजयादित्य के मारे जाने पर उनकी गर्भवती रानी का विष्णुभट्ट की शरण में जाना और वहॉ उसे पुत्र होना यह् प्राचीन सत्य घटना कविराज दण्डी के समय तक दक्षिण भारत मे प्रसिद्ध थी और दण्डी कवि कै दक्षिण भारत के होने के कारण उन्होनें इस सत्य घटना के आधार पर ही अपने दशकुमारचरितम् नामक गद्यकाव्य का प्रारम्भ किया, तो अनुचित न होगा। प्रायः कवि लोग कुछ अपूर्व प्राचीन घटना के आधार पर ही नूतन ग्रन्थ रचना में प्रवृत्त होते थे।

अनन्तर रानी को बडा तेजस्वी पुत्र हुआ जिसका नाम विष्णु रखा गया। यही बालक आगे चलकर विष्णुवर्धन नाम का एक प्रतापी राजा हुआ। इसने कदम्ब और गङ्ग वश के राजाओ को जीत कर कई हजार ग्रामो का एक साम्राज्य नर्मदा से सेतुबध रामेश्वर तक स्थापित किया। उसके उत्कट पराक्रम से प्रभावित होकर काञ्ची के पल्लव वशीय राजा ने अपनी कन्या से इसका विवाह बडे ठाट–बाट से कर दिया। इसका पुत्र विजयादित्य (द्वितीय) हुआ। विजयादित्य (द्वितीय) का पुत्र जयसिह हुआ जिसकी उपाधिया बल्लभेन्द्र आदि थी।

प्राचीन चालुक्य वंश के राजाओ की राजधानी अयोध्या थी। इस सम्बन्ध मे कविराज बिल्हण[1] तथा अय्यणवशचरित[2] काव्य का एकमत है। किन्तु पूर्ववर्ती राजाओ के नामो मे बडा ही भेद है। बिल्हण कवि ने ब्रह्मा की अजुली से उत्पन्न वीर का वर्णन कर उस वंश मे उत्पन्न हारीत[3] और मानव्य नामक राजाओ का वर्णन किया है किन्तु अय्यणवंशचरित काव्य में इन श्लोको मे इन दोनो राजाओ का नाम भी नहीं है।

हारीत और मानव्य ये दोनो शब्द क्रम से हरितम् तथा मानव्यस् इन' गोत्रपरक शब्दों से सम्बन्ध रखते हैं। चालुक्यवशीय राजा लोग अपने कुलगुरू का

---

१. प्रसाध्य त रावणमध्युवास या मेथिलीश· कुलराजधानीम्।
ते क्षत्रियास्तामवदात कीर्ति पुरीमयोध्या विदधुर्निवासम्।।
विक्रम० (प्रथम सर्ग ६३ श्लोक)

२ श्री रामचन्द्रद्भुत राजधानी पुरीमयोध्या सुसिषेविरे नृपा.
अय्यणवंशचरित् (प्रथम सर्ग ६३ श्लोक)

३. विपक्षवीराद्भुत कीर्ति हारीत इत्यादि पुमान्स यत्र।
मानव्य नामा च वभूव मानी मानत्ययं म कृतवानरोणाम्।।
विक्रम० (प्रथम सर्ग ५८ श्लोक)

गोत्र ही अपना गोत्र मानते थे। मानव्य के सम्बन्ध मे प्राचीन ताम्रपत्र[1] तथा शिलालेखो से सिद्ध हो जाता है, कि चालुक्य वश के राजा मानव्य गोत्री थे। सम्भव है कि मानव्यस् गोत्र के कुलगुरू के पूर्व के कुलगुरू हरितस् गोत्री होने से पूर्ववर्ती राजा अपने को हारीत गोत्री मानते थे।

मानव्य गोत्री कुलगुरू के वश का नाश हो जाने पर भारद्वाज गोत्री कुलगुरू के कारण इस वश का गोत्र 'भारद्वाज' गोत्र हो गया यह बात चालुक्य वशीय श्री सरदार ए०ए० पाटील, विश्राम प्राप्त कलेक्टर, दमोह, म०प्र० से विदित हुई। इस कारण यह अनुमान किया जा सकता है कि हारीत और मानव्य ये दोनो ऐतिहासिक राजा नही थे जैसा कि बिल्हण ने अपने महाकाव्य मे दर्शाया है। ये दोनो चालुक्य वशीय राजाओ के गोत्र के नाम थे और ताम्रपत्र तथा शिलालेखो में इन शब्दो को देखकर, इन्हे चालुक्य वंशीय राजा समझ कवि राज बिल्हण ने इन दो पूर्ववर्ती राजाओ का उल्लेख कर दिया है।

कविराज बिल्हण ने 'हारीत' और 'मानव्य' राजाओ का सक्षिप्त वर्णन कर अपने महाकाव्य मे पूर्ववर्ती राजाओ को छोडकर राजा 'तैलप द्वितीय' से वर्णन प्रारम्भ किया है। 'विक्रमादित्य षष्ठ' का वर्णन करने मे प्रवृत्त कविराज बिल्हण का पाच पीढी पूर्व से चालुक्य वशीय राजाओ का वर्णन करना अनुचित नही कहा जा सकता। उनका मुख्य ध्येय चालुक्यवश का इतिहास न लिखकर 'विक्रमादित्य षष्ठ' का वर्णन करना ही था, परन्तु चालुक्य वश का प्राचीन इतिहास लिखने वाले डॉ० आर०जी० भडारकर, श्री कृष्ण स्वामी ऐयगर, सदृश ऐतिहासिक विद्वानो का प्राचीन

---

१. परिशिष्टम्

चालुक्य वशीय राजाओ का उल्लेख न करना अटपटा सा लगता है। सभवत इन प्राचीन राजाओं के संदर्भ मे अनेक ताम्रपत्रो व शिलालेखो के रहने पर भी उनका पता न लगाकर उन्होने उन प्राचीन राजाओ का वर्णन किया है। 'महामहोपाध्याय श्री गौरीशकर ओझा' ने अपने 'सोलकियो का प्राचीन इतिहास' नामक पुस्तक में ताम्रपत्रो तथा शिलालेखों के आधार पर चालुक्यवशीय प्राचीन राजाओं का वर्णन किया है जो 'अय्यणवश चरित' काव्य से मिलता है।

यथार्थ में प्राचीन कल्याणी के चालुक्य वश का इतिहास, जो प्रकाशित है वह अपूर्ण है। इसकी पूर्ति करने मे कोई उत्साही, धनी, ऐतिहासिक ही सफल हो सकता है। प्राचीन इतिहास के विद्वानो को अभी इसका पता नही है। यदि इस भूमिका को तथा द्वितीय भाग की भूमिका व परिशिष्टो को या 'चालुक्यराज अय्यणवंशचरितम्' काव्य के प्रकाशित होने पर उसे पढ कर कोई प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक इस ओर प्रवृत्त हो तो उसे सफलता व यश प्राप्त हो सकता है।[1]

भारतीय इतिहास में विक्रमादित्य/विक्रमाङ्कदेव–

इतिहास से प्रमाणित होता है कि विक्रमादित्य उपाधि अनेक सम्राटों ने धारण की, यथा चन्द्रगुप्त द्वितीय (३८०–४१४ ई०), उसके पुत्र स्कंदगुप्त (४५५–४६७ ई०), कश्मीर का विक्रमादित्य (५०० ई०) और अनेक चालुक्यो ने, यथा विक्रमादित्य प्रथम (६५५–६८० ई०), विक्रमादित्य द्वितीय (७३३–७४६ ई०), त्रिभुवन मल्ल (१००६–१०१६ ई०) तथा विक्रमादित्य अथवा विक्रमाङ्क (१०७६–११२६ ई०)।

इन राजाओं में तृतीय गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय, जिसने शकक्षत्रपो को

---

१. विक्रमाङ्कदेवचरितम् भूमिका–विश्वनाथ शास्त्री भारद्वाज

परास्त किया, उज्जैन जिसकी राजधानी थी और जिसका शासनकाल बौद्धिक उपलब्धियो तथा चतुर्दिक समृद्धि के कारण प्रसिद्ध है और जिसके काल मे सभवत कालिदास भी हुए थे, उसी को मूल राजा मानना उचित है। बाद मे विक्रमादित्य को लेकर अनेक दत कथाये प्रचलित हो गयी।

'विक्रमादित्य' एक उपाधि थी जिसे अनेक प्राचीन भारतीय राजाओ ने धारण किया। देव कथाओ के अनुसार विक्रमादित्य उज्जयिनी के राजा थे, जिसके दरबार मे नवरत्न रहते थे। इनमे 'कालिदास' भी थे। कहा जाता है कि वह बडा पराक्रमी राजा था, और उसने शको को परास्त किया था। ई० पूर्व ५८–५७ मे प्रारम्भ 'विक्रमसवत' राजा विक्रमादित्य का चलाया हुआ माना जाता है।

परन्तु इतिहास मे ई० पूर्व प्रथम शदी के उत्तरार्द्ध मे पश्चिमी भारत मे शासन करने वाले ऐसे किसी पराक्रमी राजा का उल्लेख नहीं प्राप्त होता जिसने 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की हो।

कल्याणी का एक चालुक्य राजा (१०७६–११२६ ई०) जो पराक्रमी, योद्धा तथा साहित्य का संरक्षक था, उसके दरबारी कवि 'बिल्हण' ने 'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' के नाम से उसकी जीवनी लिखी है। प्रसिद्ध धर्मशास्त्रकार 'मिताक्षरा' के रचयिता विज्ञानेश्वर को भी उसका सरक्षण प्राप्त था। उसने 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की थी।[1]

---

१ भारतीय इतिहास कोष ('ए डिक्शनरी ऑफ इण्डियन हिस्ट्री' का हिन्दी रूपान्तर) पृ०४३१

सामान्य परिचय–

भारतीय मनीषा विक्रमाङ्कदेवचरितम् को ऐतिहासिक महाकाव्य मानती है, क्योकि कल्याणी के चालुक्यवशीय राजाओ का इतिहास जानने के लिए यह महाकाव्य परमोपयोगी है। इसमे विक्रमादित्य के पिता 'आहवमल्ल' के पराक्रमो का वर्णन, विक्रमादित्य के राजकुमार होते हुए महान् विजय करना, शत्रुओ के साथ घोर युद्ध आदि प्रमुख ऐतिहासिक प्रकरण है। अत एव ऐसी ऐतिहासिक सूचना देने के आधार पर वाक्पतिराज का 'गउडवहो', पद्मगुप्तपरिमल का 'नवसाहसाङ्क चरित', कल्हण की 'राजतरगिणी, हेमचन्द्र का 'कुमारपाल चरित'; सोमेश्वर की 'कीर्ति कौमुदी', अरिसिह का 'सुकृत–सकीर्तन', बालचन्द्रसूरि का 'बसन्तबिलास', जयानक का 'पृथ्वीराज विजय', सध्याक्ररनन्दी का 'रामपाल चरित', नयनचन्द्रसूरि का 'हम्मीर महाकाव्य' आदि ऐतिहासिक महाकाव्य माने जाने हैं, उसी प्रकार इतिहास के तथ्यो से सामञ्जस्य स्थापित करने मे योगदान करने के कारण हम प्रस्तुत महाकाव्य को भी ऐतिहासिक कह सकते हैं।

१८ सर्गों मे निबद्ध इस महाकाव्य के प्रथम सात सर्गों मे अधिकाश ऐतिहासिक सामग्री ही है कितु ८वे सर्ग से राजकुमारी चन्दलदेवी का नायक के साथ परिणय प्रबन्ध आरंभ होता है। बसत ऋतु का श्रृगारिक वर्णन, नायिका सौन्दर्य वर्णन, विवाह व कामक्रीडाओ का वर्णन ११वे सर्ग तक मिलता है। इसके बाद भी जलक्रीडा, मृगया आदि का वर्णन १२वें, १३वे व १६वें सर्ग मे है। १४वें व १५वें सर्ग में कौटुम्बिक कलह तथा १७वें सर्ग में पुत्रोत्पत्ति, विक्रमपुर नगर निर्माण व विष्णु के कमला विलास मंदिर निर्माण के अतिरिक्त चोलों

की पराजय का वृन्तान्त है। १८वे सर्ग मे बिल्हण ने स्वकुटुम्ब वर्णन के साथ–साथ अपनी भारत यात्रा का वृत्तान्त लिखा है।

विक्रमाङ्कदेवचरितम् का महाकाव्यत्व–

यह महाकाव्य तत्कालीन सस्कृत काव्यशास्त्र के महाकाव्य सबधी मानदण्डो के अनुसार लिखा गया है। उदाहरणार्थ –

१ आठ या आठ से अधिक नातिन्यून नातिविस्तीर्ण सर्गों से युक्त होना। इस महाकाव्य मे अष्टादश सर्ग पाये जाते हैं जो नातिन्यून है और न अत्यधिक विस्तृत ही है।

२ प्रत्येक सर्ग के अन्त मे छन्दो का परिवर्तन होना आवश्यक है। विक्रमाङ्कदेवचरितम् का प्रत्येक सर्ग एक छन्द मे बद्ध है, केवल अन्तिम श्लोक मे छन्द परिवर्तित है।

३. धीरोदात्तत्व से युक्त किसी दिव्य अथवा क्षत्रिय कुलोद्भव राजा का नायक होना आवश्यक है। इस महाकाव्य का नायक क्षत्रिय कुलोत्पन्न 'विक्रमाङ्कदेव' है जो धीरोदात्त नायक के सभी गुणो से विभूषित है।

४ शांत, वीर व श्रृगार रसो मे से किसी एक का अगीरस तथा अन्य रसो का समावेश होना आवश्यक है। इस महाकाव्य का अगीरस वीर तथा श्रृगार आदि अन्य समस्त रसो को उसके अंग के रूप मे चित्रित किया गया है।

५ कथानक ऐतिहासिक अथवा लोक प्रसिद्ध होना चाहिए। इस महाकाव्य का कथानक ऐतिहासिक है। विक्रमाङ्कदेव इतिहास में प्रसिद्ध वीर हैं। उससे

सबद्ध कथानक भी ऐतिहासिक कथानक है।

६ महाकाव्य मे नाटक की पञ्चसधियों का विधान भी होना चाहिए। इस महाकाव्य में यथा स्थान पञ्चसधियो का सन्निवेश किया गया है। यथा प्रथम सर्ग से तृतीय सर्ग के कथानक में बीज तथा प्रारम्भावस्था के कारण 'मुखसंधि", चतुर्थ सर्ग का कथानक 'प्रतिमुख सधि', पञ्चम सर्ग के कथानक मे 'गर्भसंधि' तथा 'विमर्श सधि' और सप्तदश सर्ग के उपसंहार में 'निर्वहण सधि' के दर्शन होते हैं।

७. चतुर्वर्ग का प्रयोजन भी होना चाहिए। इस महाकाव्य के लेखक को धन प्राप्ति तो हुई ही थी, उसके द्वारा ही धर्म काम तथा मोक्ष की प्राप्ति सुलभ है। इस प्रकार चतुर्वर्ग का विधान भी किया गया है।

८ काव्य के प्रारम्भ में, मांगलिक श्लोक का विधान होना चाहिए। महाकाव्य के प्रारम्भ मे 'नमस्कारात्मक मगल' का विधान किया गया है।

९ महाकाव्य के मध्य में आवश्यकतानुसार बसन्त आदि ऋतुओ, युद्धो, यात्राओ, संध्या, सूर्योदय, सूर्यास्त आदि का वर्णन होना चाहिए। इस महाकाव्य के बीच में आवश्यकतानुसार ऋतुओं, युद्धो, यात्राओं, सध्या, सूर्योदय, सूर्यास्त आदि का वर्णन किया गया है।

१०. मुख्य घटना चरित्र अथवा मुख्यपात्र के आधार पर काव्य का नामकरण होना चाहिए। इस महाकाव्य का नामकरण नायक विक्रमाङ्कदेव के नाम के आधार पर किया गया है।

इस प्रकार भारतीय काव्य शास्त्र के द्वारा प्रतिपादित सभी लक्षण इस महाकाव्य मे पाये जाते हैं। पाश्चात्य काव्य–शास्त्रो की दृष्टि से भी चरित्र, शैली, उद्देश्य की उदात्तता तथा आकार की महत्ता आदि सभी विशेषताये इस महाकाव्य मे पायी जाती हैं।

विक्रमाङ्कदेवचरितम् का कथानक

दक्षिणापथ के इतिहास मे चालुक्यो का स्थान अत्यन्त गौरवपूर्ण रहा है। इन चालुक्यो के नाम से चार राजवशो का उल्लेख मिलता है–

१ वातापी (बादामी) के चालुक्य,

२ वेगी के चालुक्य,

३ कल्याणी के चालुक्य,

४ गुर्जर देश के चालुक्य।

प्रकृत काव्य मे कल्याणी के चालुक्यवश मे जन्म लेने वाले विक्रमादित्य षष्ठ को नायक बनाया गया है। कर्नाटक प्रान्त का प्राचीन नगर कल्याणी इनकी राजधानी थी। इसी वश मे तैलप (६७३–६६७ ई०) नामक राजा ने राष्ट्रकूटों को जीतकर चालुक्य राज्यलक्ष्मी को बढाया। तैलप के पश्चात् सत्याश्रय (६६७–१००८ ई०) ने शासन किया, उसके बाद विक्रमादित्य पचम (१००८–१०१४ ई०) तथा अय्यण (१०१५ ई०) के पश्चात् जयसिंह द्वितीय (१०१५–१०४३ ई०) ने राज्य किया। तत्पश्चात् जयसिह के पुत्र सोमेश्वर प्रथम त्रैलोक्यमल्ल (१०४३–६८ ई०) ने शासन किया। त्रैलोक्यमल्ल आहवमल्ल के नाम से भी प्रसिद्ध था। इस प्रतापी राजा ने

चोल राजाओ को अनेक बार जीता। मालवा पर आक्रमण करके भोजराज को उसकी राजधानी धारा से भगाया। डाहल नरेश कर्ण को जीता, चोल राजधानी काची को अधीनस्थ कर लिया तथा कल्याणी मे अपनी राजधानी स्थिर की।

आहवमल्ल के तीन पुत्र हुए उनमे सोमेश्वर ज्येष्ठ था और विक्रमाङ्कदेव मध्यम तथा जयसिह कनिष्ठ था। पिता के समक्ष ही विक्रमादित्य ने अनेक युद्ध किये और अपनी वीरता से सबको प्रभावित किया। यह देखकर पिता ने उसको युवराज बनाना चाहा, परन्तु ज्येष्ठ भाई के रहते उसने स्वय युवराज बनना स्वीकार नही किया। अनेक प्रकार से पिता कै आग्रह करने पर भी जब वह युवराज नही बना तब सोमेश्वर को ही युवराज बनाया गया, किन्तु कार्यभार विक्रम को ही राम्भालना पडता था। पिता की आज्ञा से उसने अनेक युद्ध किये और सबमे विजय प्राप्त की। उसने चोल नरेश को हराकर उसकी राजधानी काची को हस्तगत कर लिया। मालव–पति के शरण में आने पर उसके शत्रुओ को पराजित करके उसका राज्य पुन लौटा दिया। कामरूप और गौड देशो पर विजय प्रांप्त की। केरल के राजा को युद्ध मे मारा, सिहल नरेश ने अधीनता स्वीकार कर ली। चोल देश के गाङ्गकुण्ड और चक्रकोर नगरों को जीतकर लौटते समय उसे कृष्णा नदी के किनारे अपने पिता के निधन का समाचार मिला। अपने रोग को असाध्य समझकर आहवमल्ल ने तुंगभद्रा मे जल समाधि ले ली थी। आहवमल्ल की मृत्यु के अनन्तर उसके ज्येष्ठ पुत्र सोमेश्वर द्वितीय (१०६८–१०७६ ई०) ने ही शासन सम्हाला। विक्रमादित्य ने विजयों मे प्राप्त सम्पत्ति सोमेश्वर को ही अर्पित कर दी।

कुछ समय पश्चात् दुर्दैववश सोमेश्वर अत्यन्त दुर्विनीत और अन्याय परायण

हो गया। अपने दुर्गुणो से उसने चालुक्य राज्यलक्ष्मी को कलङ्कित कर दिया। यह देखकर विक्रम को अनिच्छापूर्वक कल्याणी छोडकर अपने अनुज जयसिह को साथ लेकर निकलना पडा। इस बात को सहन न कर सकने के कारण सोमेश्वर ने उससे युद्ध करने के लिए विशाल वाहिनी भेज दी। पहले तो विक्रम ने उस युद्ध को बहुत टाला पर अन्तत विवश होने पर उसे युद्ध के लिए तैयार होना पडा। क्षणभर में उसने सारी सेना को विध्वस्त कर दिया। उसके पश्चात् विक्रमादित्य ने तुगभद्रा के तटपर अपना शिविर बनाया और विजय आरम्भ की। कोकण नरेश जयकेशि तथा आलुपराज ने उसकी अधीनता स्वीकार की। चोल नरेश ने अपनी कन्या का विवाह उससे कर दिया। कुछ ही दिन बाद चोल नरेश की मृत्यु हो जाने पर उसने काची के विप्लव का दमन किया और अपने साले को राजा बनाया, किन्तु थोडे दिनो बाद फिर विप्लव हुआ और नये शासक की मृत्यु हो गयी।

राजिग नाम्क वेग देश के राजा ने काची पर अधिकार कर लिया। इस समाचार को सुनकर विक्रम ने राजिग पर आक्रमण करने के लिए अपनी सेना को तैयार कर कांची की ओर प्रस्थान किया। राजिग ने विक्रम से सधि कर ली जिससे विक्रम के बडे भाई सोमेश्वर ने उससे चिढकर पीछे से उस पर आक्रमण कर दिया। भाई के साथ युद्ध करना अनुचित समझकर विक्रम ने उसके पास अपना दूत भेजा, पर परिणाम कुछ न निकला। अन्त मे युद्ध हुआ और विक्रम अपने पराक्रम से विजयी हुआ। राजिग भागकर कही चला गया, अब कल्याणी का शासन विक्रम करने लगा। उसने अपने भाई से १०७६ ई० के आस–पास राज्य जीता।

विक्रम ने ':करहाट' राजकुमारी चन्द्रलेखा को स्वयवर मे जीता और उसे

अपनी पटरानी बनाया। राज्यारोहण के कुछ समय बाद छोटे भाई जयसिंह ने जो वनवास मण्डल पर शासन करता था विक्रम पर आक्रमण कर दिया। किन्तु युद्ध मे उसकी पराजय हुई और विक्रमादित्य उसे समझा–बुझाकर कल्याणी लौट आया। चोलो के फिर सिर उठाने पर उन्हे पराजित कर काची पर अधिकार कर लिया। वहा कुछ दिन रहकर विक्रम अपनी राजधानी को वापस लौट आया।

इस प्रकार समस्त शत्रुओ को परास्त कर विक्रम ने सब प्रकार से सुख शान्ति व समृद्धि का एकछत्र राज्य स्थिर कर लिया। उसका राज्य तुगभद्रा से नर्मदा तक विस्तृत था। जहा एक बिल्हण जैसा एक महान् कवि विक्रमादित्य षष्ठ का राजकवि था, वहीं याज्ञवल्क्य स्मृति पर सुप्रसिद्ध मिताक्षरा टीका के रचयिता महापण्डित विज्ञानेश्वर भी उसी के आश्रय मे रहते थे।

विक्रम ने ११२७ ई० तक राज्य किया। इसके दो पुत्र (जयकर्ण, सोमेश्वर) और एक कन्या मैलल महादेवी हुई। उपर्युक्त सम्पूर्ण कथा १८ सर्गों मे विभाजित है।

इस प्रकार इस महाकाव्य मे चालुक्यवशीय राजाओं के १०७६–११२६ ई० तक के राजाओं के इतिहास का वर्णन हुआ है।

कर्त्ता का समय व जीवन परिचय–

जैसा कि सर्वविदित है कि विक्रमाङ्कदेवचरितम् के रचनाकर्ता कवि बिल्हण है। बिल्हण का स्थिति काल ११वी सदी का उत्तरार्ध माना जाता है क्योकि कल्हण ने राजतरंगिणी में बिल्हण के सम्बन्ध में लिखा है–

काश्मीरेभ्यो विनिर्यात काले कलशभूपते[1]।

अर्थात् राजा कलश के राज्यकाल मे बिल्हण ने कश्मीर से प्रस्थान किया। ऐतिहासिक प्रमाण से कलश का राज्याभिषेक १०६२ ई० मे हुआ था। अत उसके बाद ही कवि का कश्मीर छोडना निश्चित हुआ फिर राजतरगिणी मे वहीं यह भी उल्लेख है–

त्यागिन हर्षदेव स श्रुत्वा सुकविबान्धवम्[2]।

बिल्हणो वञ्चन मेने विभूति तावतीमपि।।

अर्थात् सुकवि बान्धव त्यागी हर्ष के यश को सुनकर बिल्हण ने उतने विभव को भी वञ्चना ही माना। हर्ष का समय १०८४–११०१ ई० माना जाता है। अत इन उल्लेखो के आधार पर बिल्हण का समय उपर्युक्त मानना उचित है।

बिल्हण की रचनाएं–

यद्यपि सुभाषित ग्रथो मे बिल्हण के नाम से अङ्कित बहुत से श्लोक उपलब्ध होते हैं और जल्हण गुम्फित 'सूक्तिमुक्तावली' मे बिल्हण के १०८ श्लोक मिलते है तो भी पुस्तकाकार मे उनकी चार रचनाए प्राप्त हुई है–

१	शिवस्तुति	२	कर्णसुन्दरी नाटिका
३	चौरपञ्चाशिका	४	विक्रमाङ्कदेवचरितम्

१. **शिवस्तुति–** यह रचना भगवान् शङ्कर की स्तुति के रूप मे लिखी गयी है। कवि ने इसकी रचना कब की यह नही कहा जा सकता।

---

१. राजतरगिणी– ७

२ राजतरंगिणी– ६३५

२. **कर्णसुन्दरी–** यह चार अङ्को मे लिखित एक नाटिका है, जो हर्षदेव की रत्नावली नाटिका की शैली मे लिखी गयी है। इसमे गुजरात के राजा कर्णदेव का एक विद्याधर कन्या के साथ प्रणय और अन्तत महारानी की अनुमति से विवाह वर्णित है। सम्भावना है कि इसकी रचना कवि ने अणहिलपट्टण के राजा के आश्रय मे रहते हुए की होगी। कवित्व की दृष्टि से यह रचना अत्यन्त सुन्दर है। इस पुस्तक का प्रकाशन काव्यमाला सस्कृत सीरीज की सातवीं सङ्ख्या मे बम्बई से हुआ है।

३. **चौरपञ्चाशिका–** यह श्रृङ्गार रस से परिपूर्ण एक खण्ड काव्य है। इसमे ५० श्लोक है और प्रति श्लोक का आरम्भ 'अद्यापि' पद से है। जैसे–इसका अतिम श्लोक बहुत भावपूर्ण तथा सुप्रसिद्ध है–

"अद्यापि नोज्झति हर. किल कालकूट कूर्मो विभर्ति धरणींखलु पृष्ठभागे।

अम्भोनिधिर्वहति दु.सहवाडवाग्निमङ्गीकृत सुकृतिन परिपालयन्ति।।"

इस पुस्तक की रचना के सम्बन्ध मे एक आख्यायिका प्रचलित है। गुजरात में महिलापत्तन नामक नगर मे वीर सिह नाम का एक राजा था। उसने अवन्ती के राजा 'अतुल' की पुत्री 'सुतारा' से विवाह किया। उससे शशिकला नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई। बडी होने पर शशिकला को पढाने के लिए, संयोगात् वहाँ आये हुए बिल्हण कवि को नियुक्त किया गया। शशिकला थोडे ही दिनों मे विदुषी हो गयी। इसके पश्चात् काव्यशास्त्र और कामशास्त्र आदि का अध्ययन करते–करते शशिकला जन्मान्तरीय सस्कार के उद्बुद्ध हो जाने से बिल्हण पर अनुरक्त हो गयी। दोनों में प्रणय चलता

रहा। जब रहस्य खुला तो बिल्हण को मृत्युदण्ड मिला। जब कवि वध स्थान पर ले जाया गया तो उसने अपनी प्रेयसी का स्मरण करते 'चौरपञ्चाशिका' के श्लोक पढे। श्लोको से द्रवित होकर अधिकारियों ने राजा को इसकी सूचना दी। राजा ने भी द्रवित होकर कवि को क्षमा कर दिया और राजकुमारी का कवि के साथ विधिपूर्वक विवाह कर दिया। कहा जाता है कि बिल्हण का दूसरा नाम 'चोर' या 'चौर' था। जयदेव के पद्य से भी यह सिद्ध होता है "यस्याश्चौरश्चिकुरनिकर"। इसी आधार पर इसका नाम 'चौरपञ्चाशिका' रखा गया है।

इस पुस्तक का प्रकाशन बर्लिन, मद्रास, बम्बई और कलकत्ता से समय–समय पर हुआ था।

४. **विक्रमाङ्कदेवचरितम्–** यह महाकवि बिल्हण की अद्वितीय रचना है। अपने आश्रयदाता विक्रम के यश का वर्णन करने के लिए महाकवि ने इस महाकाव्य की रचना की। सस्कृत साहित्य मे चरित काव्यो की भी एक सुन्दर परम्परा रही है। आदि कवि बाल्मीकि ने सर्वप्रथम रामायण मे रामचरित का पावन वर्णन किया है। भारत के प्राचीन ऐतिहासिक ग्रथो मे कल्हण की राजतरङ्गिणी और बाणभट्ट के हर्षचरित के बाद विक्रमाङ्कदेवचरितम् महाकाव्य की ही गणना की जाती है। विक्रमाङ्कदेवचरितम् १८ सर्गो मे निबद्ध एक महाकाव्य है। इसमें वीर रस का प्राधान्य है। चालुक्यवशीय महाराज विक्रमादित्य षष्ठ त्रिभुवनमल्ल इसके नायक है।

प्रकाशन संस्करण–

इस पुस्तक का प्रकाशन प्रसिद्ध जर्मन विद्वान जार्ज ब्यूहलर ने बाम्बे सस्कृत सीरीज मे १८७५ ई० मे किया था। ब्यूहलर और याकोवी जब प्राचीन पाण्डुलिपियो की खोज मे भ्रमण कर रहे थे तब राजस्थान मे उन्हे इसकी पाण्डुलिपि मिली थी। इसका दूसरा सस्करण वाराणसी से ज्ञानमण्डल द्वारा १९२७ ई० मे प्रकाशित हुआ। तीसरा सस्करण श्री मुरारीलाल नागर के द्वारा सम्पादित और सशोधित होकर सरस्वती भवन पुस्तकालय वाराणसी से प्रकाशित हुआ। चौथा सस्करण भी वाराणसी से ही 'हिन्दू विश्वविद्यालयीय सस्कृत साहित्यानुसन्धान समिति' द्वारा प्रकाशित किया गया।

जीवन परिचय–

महाकवि बिल्हण का जीवन–चरित्र सस्कृत के अन्य महा कवियो की भॉति अधकार मे नही है क्योकि प्रस्तुत महाकाव्य के अतिम अठारहवे सर्ग मे उन्होने अपना सक्षिप्त परिचय लिख डाला है। तद्नुसार– कश्मीर के प्रधान नगर प्रवरपुर (श्रीनगर) से सार्धगव्यूति मात्र (ढाई कोस) की दूरी पर उत्तुङ्ग चैत्यो वाला 'जयवन' नाम का एक स्थान था–

"तस्मादस्ति प्रवरपुरत सार्धगव्यूतिमात्रीं[1]।
भूमि त्यक्त्वा जयवनमिति स्थानमुत्तुङ्गचैत्यम।।"

इसी के पास 'खोनमुष (वर्तमान खुनमोह) नामक ग्राम में बिल्हण का जन्म हुआ। यह स्थान अपने केसर और अगूर के लिए प्रसिद्ध था–

---

१. विक्रम, १८/७०

"ब्रूमस्तस्य प्रथमवसतेरदभूताना कथाना,।[1]
कि श्रीकण्ठश्वशुर शिखरिक्रोडलीलाललाम्न ।।
एको भाग प्रकृति सुभग कुड्कुम यस्य सूते,।
द्राक्षामन्यः सरससरयूपुण्ड्रकच्छेदपाण्डुम् ।।"

यहाँ पर महाराज गोपादित्य ने मध्यप्रदेश से कौशिक गोत्रीय ब्राह्मणो को बुलाकर बसाया था। उन ब्राह्मणो मे एक 'मुक्तिकलश' नामक व्यक्ति वेदादि शास्त्रो मे निष्णात् एव अग्निहोत्री था। उस विप्रवर से महापण्डित 'राजकलश' का जन्म हुआ था, जो व्याकरण की गूढ गुत्थियो को सुलझाने के लिए पातञ्जल महाभाष्य पर व्याख्यान दिया करता था–

"महाभाष्यव्याख्या सकलजनवन्धौ निदधत ।
सदा यस्य च्छात्रैस्तिलकितमभूत् प्राङ्गणमपि ।।"

उसकी पत्नी का नाम 'नागादेवी' था। उसी दम्पत्ति से महाकवि बिल्हण ने जन्म ग्रहण किया। वे बाल्यकाल से अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि थे। वेद, व्याकरण, दर्शन, साहित्य शास्त्र, सब पर उनका समान अधिकार था। ऐसा कौऩ विषय था, जो उनकी प्रज्ञारूपी निर्मल दर्पण मे प्रतिबिम्बित नही हुआ–

साङ्गो वेद· फणिपतिदिशा शब्दशास्त्रे विचार,।
प्राणा यस्य श्रवणसुभगा सा च साहित्यविद्या।।
कोवा शक्त परिगणयितु श्रूयता तत्त्वमेतत्।
प्रज्ञादर्शे किमिव विमले नास्य सडक्रान्तमासीत्।।"[2]

वाग्देवी के चरण–रज के प्रभाव से विद्या–वधुए बिल्हण का आनन निहारती थी। उनकी सरस और मधुर कविता देश–देशान्तरो मे व्याप्त हो गई–

---

१. विक्रम. १८/७२
२. विक्रम. १८/८२

"चक्र यस्याक्रियत वदनप्रेक्षि विद्यावधूना।
श्रीवाग्देव्याश्चरणरजसा कार्मणत्व गतेन।।
याता सार्धं दिशि–दिशि पुनर्वन्धुरा सर्गवन्धा।
कीर्ते परिप्लवविदलने सौविदल्ला बभूवु।।"[1]

बिल्हण अपने जीवन काल मे अपनी कविता का समादर न देखकर 'उत्पत्स्यतेहि मम् कोऽपि समानधर्मा कालो ह्यय निरवधिर्विपुला च पृथ्वी' लिखने वाले भवभूति के समान नहीं थे। प्रत्युत् उनके जीवन काल में ही गॉव–गॉव मे, नगर–नगर मे आबालवृद्ध जन आनन्दविभोर होकर उनके काव्य का पाठ करते थे–

"ग्रामो नासौ न स जनपद सास्ति नो राजधानी।
तन्नारण्य न तदुपवन सा नसारस्वती भू।।
विद्वान् मूर्ख· परिणतवया बालक स्त्री पुमान् वा।
यत्रोन्मीलित पुलकमखिला नास्य काव्य पठन्ति।।"[2]

बिल्हण ने महाकवि बाणभट्ट की तरह लम्बी यात्रायें भी की थी। कश्मीर मे अपने यश का विस्तार करके उन्होने देशान्तर के लिए प्रस्थान (१०६२–१०६५ ई०) मे किया। यमुना के किनारे–किनारे वे मथुरा पहुँचे। वहॉ विद्वानो से शास्त्रार्थ किया और कुछ समय तक वृन्दावन मे निवास किया। फिर वृन्दावन से कान्यकुब्ज होते हुए वे प्रयाग आये। यहाँ उन्होने अपने पूर्वोपार्जित प्रचुर धन को उदारतापूर्वक दान कर दिया–

तस्मिन् वारान् कति न कृतिना तीर्थनाथे प्रयागे।
दत्ता विश्वाद्भुतगुणगणोपार्जिता येन लक्ष्मी·।।

वहॉ से वे काशी पहुँचे और उन्होने गगा मे दु·शील राजाओ के

---

1. विक्रम. १८/८३
2. विक्रम. १८/८६

मुखावलोकनजन्य पाप को धो डाला।

डाहल (बुन्देलखण्ड) देश के नरेश कर्ण ने बिल्हण का बहुत सम्मान किया था। डाहल नरेश के यहाँ प्रसिद्ध कवि गङ्गाधर को उन्होने परास्त किया था। यह शास्त्रार्थ विद्याकेन्द्र काशी मे ही हुआ था। उस समय काशी पर डाहलाधीश का ही शासन था। यद्यपि बिल्हण ने कई जगह शास्त्रार्थ मे विजय प्राप्त की थी किन्तु किसी विजित पण्डित के नामोल्लेख का यही प्रयोजन हो सकता है कि इस विजय को कवि ने बहुत महान् या लोकोत्तर माना है।

"नीत्वा गङ्गाधरमधरता डाहलाधीशधाम्नि ।

क्रीडाक्रान्त प्रतिभट कवे पूर्वदिक्कोटरेषु।।"

तत्पश्चात् बिल्हण अपनी वाग्धारा से अयोध्या को शीतल करके गुर्जर देश की ओर प्रस्थित हुए। गुर्जर के मार्ग मे वे धारा भी गये, किन्तु उसके पूर्व ही (१०५५ ई० में) राजा भोज का स्वर्गवास हो चुका था। अत भग्नमनोरथ होकर वे वहाँ से आगे बढे–

'भोज· क्ष्माभृत्स खलु नखलैस्तस्य साम्य नरेन्द्रैस्तत्।
प्रत्यक्ष किमिति भवता नागत हा हतास्मि।।
यस्य द्वारोड्डमरशिखरक्रोडपारावताना।
नादण्याजादिति सकरूण व्याजहारेव धारा।"

इस प्रकार बढ़ते हुए उन्होने भगवान् सोमनाथ का दर्शन किया। वहाँ से वे रामेश्वर के दर्शन के लिए चल पडे। भगवान् रामेश्वर के दर्शन कर चुकने के बाद उन्होनें बड़े–बडे नरेशों की सभाओं को अलकृत किया। दक्षिण प्रदेश में पर्यटन करते–करते वे कल्याणी के चालुक्य नरेश महाराज विक्रमादित्य षष्ठ त्रिभुवनमल्ल

(१०७६–११२६ ई०) की राज सभा मे आये। जहॉ सम्मान प्राप्त कवियों के लिए प्रवेश पाना कठिन था। राजा विक्रम ने बिल्हण का बहुत सम्मान किया और बहुत धन सम्पत्ति दी। यह देखकर वहॉ के अन्य कवि बिल्हण से द्वेष करने लगे और ऐसा षडयन्त्र रचा कि विक्रम बिल्हण से अप्रसन्न हो गया पर विक्रम स्वय विद्याप्रेमी था। वह बिल्हण की योग्यता से परिचित था। इसलिए उसने पुन बिल्हण को बुलाकर बहुत सम्पत्ति भेट की और उन्हे 'विद्यापति' की उपाधि से विभूषित किया–

"नीलच्छत्रोन्मदगजघटा पात्र मुत्रस्त चोलाच्चालुक्येन्द्रादलभत कृतीयोऽत्र विद्यापतित्वम्।

अस्मिन्नासीत्तदनु निबिडाश्लेष हे वाकलीलावेल्लद् वाहुक्वणित वलया सन्तत राजलक्ष्मी ।।"

अर्थात् चोलाधिपतिको त्रस्त करने वाले चालुक्य राज (विक्रमाङ्कदेव) से जिसने नीलवर्ण छत्र, अनेक गज तथा 'विद्यापति' की उपाधि प्राप्त की। उसके पास तदुपरान्त गाढालिंक से स्फुरित बाहुओ मे शब्दायमान ककडो वाली राजलक्ष्मी निरन्तर वास करने लगी। बिल्हण के सम्बन्ध मे कल्हण ने राजतरङ्गिणी मे लिखा है–

काश्मीरेभ्यो विनिर्याता काले कलशभूपते।
विद्यापति य कर्णातश्चक्रे परमाडिभूपति।।१।।
प्रसर्पत करितिभि कर्णाटकतकान्तरे।
राज्ञोऽग्रे ददृशे तुङ्ग यस्यै वातपवारणम्।।२।।
त्यागिनं हर्षदेव स श्रुत्वा सुकविबान्धवम्।
बिल्हणो कञ्चन मेने विभूति तावतीमपि।।३।।

अर्थात् राजा कलश के काल मे बिल्हण कश्मीर से निकले थे जिन्हे परमार्दि नरेश ने विद्यापति की उपाधि दी। फिर जब कर्णाट देश मे उन्होनें गज पर यात्रा की तो उनका आतपवारण छत्र राजाओ के आगे दिखाई पडा। उन्होने हर्ष की कवियो के प्रति आदर दृष्टि की बात सुनकर उतनी विभूति भी वञ्चना ही मानी।

इससे यह सिद्ध होता है कि विद्यापति बिल्हण हर्ष के राज्यकाल (१०४८—११०१ ई०) मे विद्यमान थे। विक्रमाङ्कदेव के आश्रय मे रहकर उन्होने अनेक प्रकार के ऐश्वर्यों का उपभोग किया और वृद्धावस्था मे विक्रमाङ्कदेव के लिए अपने प्रेम के उपहार रूप मे यह काव्य (१०८५ ई० मे) निर्मित किया—

'तेन प्रीत्या विरचिमिद काव्यमव्याजकान्त कर्णातेन्दोर्जगति विदुषा कण्ठभूषात्वमेतु।'

बिल्हण के ज्येष्ठ भ्राता का नाम 'इष्टराम' था। वे भी प्रकाण्ड विद्वान, महाकवि तथा अनेक राजसभाओ के आभूषण थे।

'विद्वताया स खलु शिखर प्राय यस्येष्टरामो ज्येष्ठो भ्राता क्षितिपतिशतास्थानलीलावतस ।

वक्त्रे काव्यामृतरस भरास्वादसक्तैर्यदीये दृष्टा देवी सुकविजननी सा प्रपापालिकेव।।'

बिल्हण के छोटे भाई 'आनन्द' की वाचो युक्ति भी अप्रतिम थी। उसके साथ शास्त्रार्थ करने वाले विद्वान् की कीर्ति उसकी उक्ति रूपी कुल्हाडी से कट जाने पर पुन जुडती नहीं थी। बिल्हण के पिता का नाम राजकलश और प्रपितामह का नाम

मुक्तिकलश था। कुछ विद्वानो के अनुसार अल्हण, कल्हण, बिल्हण– ये तीनो सहोदर भ्राता थे। इनके मौसेरे भाई कैयट और जैयट थे तथा इन्ही के पूर्वजो का नाम मम्मट था। कवि बिल्हण की मृत्यु कब और किन परिस्थितियो मे हुई इसका उल्लेख नही मिलता है।

काव्य का कलापक्ष–

इस काव्य को इतिहास की कसौटी पर कसने से अनक त्रुटियॉ लक्षित होगी, परन्तु काव्य की दृष्टि से यह अनुपम रचना है– मौलिक, रसपेशल तथा चमत्कार मण्डित बैदर्भी रीति का अनुसरण बडा सुन्दर है तथा भाषा प्राञ्जल, सरल और स्पष्ट है। वे श्लेष तथा अनुप्रसादि के प्रयोग मे अत्यधिकता नहीं करते। परम्परानुगत ऋतुओ का वर्णन चमत्कार से मण्डित है। कालिदास का प्रभाव विशेष रूपेण इन पर पडा है, विशेषत स्वयवर–वर्णन मे इन्दुमती स्वयवर के वर्णन की सफल प्रतिच्छाया है। चतुर्थ सर्ग मे राजा आहवमल्ल की मृत्यु का चित्रण अत्यन्त उत्कृष्ट हुआ है। यह स्वाभाविक कारूण्य का सुन्दर वर्णन है जिसमे मरणासन्न राजा की महत्ता और धैर्य का प्रभावशाली चित्रण है। इस महाकाव्य का अगी रस वीर रस है। वीर रस के चार भेद होते हैं–

प्रमुख रस–

दानवीर, धर्मवीर, दयावीर तथा युद्धवीर। विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे दानवीर का वर्णन हुआ है। महाराज विक्रमाङ्कदेव परमदानी प्रजा वत्सल थे उनके दान का चित्रण करता हुआ कवि कहता है –

'ददौ स दानानि महान्ति षोऽश प्रतापशाली प्रतिपर्व पार्थिव ।
तदन्तिकाद्दानजलै सकर्दमान्निपातभीत्येव कलि पलायित ।।१।।

प्रतापशाली राजा विक्रमाङ्कदेव विषुवद आदि प्रत्येक पर्व पर तुलादानादि सोलह दान दिया करता था। अत एव सकल्पो के जल से उसके समीप की जगह गीली हो जाने से कलियुग मानो गीली जमीन पर फिसल कर गिर पडने के डर से उसके समीप से भाग गया था, अर्थात् उसके ऊपर कलियुग का कोईप्रभाव न पडा था। एकदम शुद्ध सोना दान देने वाले राजा विक्रमाङ्कदेव से यह सन्देह कर कि यह कही मेरे शुद्ध सोने को काटकर दान न कर दे सोने का पर्वत सुमेरू अपने सोने मे आकाश की नीलिमा की परछाई पडने से मानो अपने सोने मे कालिमा की झलक से सम्बन्ध प्रकट करने लगा, अर्थात् सुमेरू के सोने को कालिमायुक्त देख उसे शुद्ध न समझ राजा विक्रमाङ्कदेव उसके सोने का दान न करेगा।

विशङ्कय यस्मात्कनकक्षमाधर ।
अदर्शयत्कालिकयेव सङ्गतिं,
स्वहेम्नि सङ्क्रान्तिनिभान्नभ श्रिय ।।[1]

धर्मवीर–

महाकवि बिल्हण ने राजा आहवमल्लदेव की धर्मवीरता का वर्णन किया है–

'तप स्वहस्ताहृतपुष्पपूजित–त्रिलोचन स्थण्डिलवासधूसर ।
तथा स राजर्षिरसाधयद्यथा महर्षयोऽस्मादपकर्षमाययु ।।[2]

---

१. विक्रम १७/४०
२. विक्रम. २/४४

अन्यच्च–

'स सौकुमार्यैकधनोऽपि सौढवास्तपोधनैर्दुष्प्रसह परिश्रमम्।
रराजतीव्रे तपसि स्थितो नृप शशीव चण्डद्युति मण्डलातिथि।।[1]

दयावीर–

सम्प्राप्त कुलकण्टक तमटवीमध्यादवन्ध्यैर्भटै।
कारूण्योद्गतवाष्पगद्गदपद सम्भाष्य सन्तोष्य च।।
चालुक्यान्वयशेखरोऽथ शिखर प्रेङखोल मुक्ताफल–
प्रालम्बद्युतिपुञ्जदर्शितयशोगुच्छामगच्छत्पुरीम्।।[2]

युद्धवीर–

'मदकरटिनमुत्कटप्रताप प्रकटितवीरमृदङ्ग धीरनाद।

मथनगिरिमिवाधिरूह्य वेगात्प्रतिबलवारिधिलोडन चकार।।[3]

अङ्ग रस–

इस महाकाव्य मे वीर रस के अतिरिक्त अन्य रसो का सहायक के रूप मे चित्रण मिलता है। पिता की मृत्यु पर महाराज विक्रमाङ्कदेव सामान्यजन की तरह विलाप करते हैं जिसमे करूण रस की मार्मिक अभिव्यजना हुई है।

---

१. विक्रम २/४५
२. विक्रम. १५/८७
३. विक्रम. ६/६८

'इत्युक्त्वा विरते तत्र कृतनेत्राम्बुदुर्दिन ।
ह्रतासिधेनु पार्श्वस्थै साक्रन्दगलकन्दल ।।
स्वभावा दार्द्रभावेन पितृस्नेहाच्च तादृश ।
तथा रूरोदे वपुषा भूपृष्ठलुटितेन स ।।[1]

विक्रमाङ्कदेवचरितम् में वर्णित वीभत्स का एक अंश–

युद्ध प्रसङ्ग में वीभत्स का सजीव चित्रण इस महाकाव्य मे प्रभूत मात्रा में हुआ है। राजनीति प्रधान वर्ण्य विषय वाले काव्यो मे युद्ध का वर्णन करना अपरिहार्य हो जाता है। अत विक्रमाङ्कदेवचरिंतम् मे स्थान–स्थान पर वीभत्स एव ह्रदयविदारक दृश्य पर्याप्त मात्रा मे मिलते हैं–

तत्कुम्भिकुम्भस्थलचीनपिष्ट – विपाटलो वारिनिधिर्बभासे।
आपूरितश्चोलबलक्षयोत्थ – रक्तापगानाम्मिव मण्डलेन।।[2]
'रूधिरपटलकर्दमेन दूर रणभुवि दुर्गमतामुपागतायाम्।
गमनमनिमिषप्रियाजनस्य प्रियमकरोदवलम्बनानपेक्षम्।।[3]

खून के आधिक्य से कीचड हो जाने से युद्धभूमि के दुर्गम हो जाने पर देवाङ्गनाओ की आश्रय रहित आकाश गति को उसने उनके लिए अभीष्ट साधक बना दिया, अर्थात् उनको युद्ध देखने मे कोई रूकावट न पडे। विक्रमाङ्कदेवचरितम् में श्रृङ्गार रस का वर्णन बिल्हण की काव्य प्रतिभा को पाकर परिपाकत्व प्राप्त करता दिखता है। इस महाकाव्य में श्रृङ्गार रस वर्णन अनायास ही पाठक को मुग्ध कर

---

१. विक्रम. चतुर्थ– ६६, ७०
२. विक्रम तृतीय –६१
३. विक्रम. षष्ठ– ७३

लेता है।

'वक्त्रनिर्मलमुन्नता कुचतटी मध्य प्रदेश कृश।
श्रोणीमण्लमङ्गनाकुल गुरोर्देवस्य सिहासनम्।।
कृत्वा चारु दृशश्चतुष्टयभिद तुष्टाव मन्ये विधि–
हर्षाद्गद्गद्गद्यपद्यरचनागर्भेश्चतुर्भिर्मुरवै ।।'[1]

विप्रलम्भ श्रृंगार–

इस महाकाव्य मे वियोग श्रृगार के अनुपम चित्रण प्राप्त होते हैं। राज्य सम्बन्धी कार्य के निमित्त अथवा युद्धस्थल आदि मे राजाओ के चले जाने पर उनकी रानियों के विरह का मार्मिक चित्रण इस काव्य मे कवि बडे मनोयोगपूर्वक किया है।

श्रोत्रामृतस्य स्फटिकप्रणाली दिव्याम्बुधारा स्मरचातकस्य।
वार्त्ता गृहीत्वा हरिणेक्षणायाश्चर क्षमाभर्तुरथाजगाम्।।[2]

इस प्रकार चन्दलदेवी के विरह सन्ताप से बहुत पीडित होने पर राजा विक्रमाङ्कदेव का दूत, कर्ण को सुख देने वाले अमृत के बहाने के लिए स्फटिक की बनी नाली के रूप तथा कामरूपी चातक के लिए स्वर्गीय जलधारा के स्वरूप, उस मृगनयनी चन्दलदेवी की खबर लेकर आ गया।

उपर्युक्त करूण, वीभत्स तथा श्रृगार आदि का सफल अकन करने मे बिल्हण को सफलता मिली है। इनके वर्णनो मे कवि की स्वच्छ प्रतिभा, ऊँची कल्पना, कमनीय पद योजना तथा रोचक यथार्थता पदे–पदे दृष्टिगोचर होती है।

यह महाकाव्य प्रसाद गुण–मण्डित वैदर्भी शैली में लिखा गया है। वैदर्भी की

---

१ विक्रम. अष्टम् ८८
२. विक्रम. नवम् २५

प्रशसा मे कवि स्वय लिखता है।

"अनभ्रवृष्टि श्रवणामृतस्य सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमि ।
वैदर्भरीति कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभप्रतिभू पदानाम्।।"

धर्मवीर–

विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे राजा को समर्पित धर्मानुचरण वाला होना बताया गया है। राजा आहवमल्लदेव द्वारा अभीष्ट प्राप्ति के लिए कठोर तप करने, अपने धर्म का सम्यक् अनुपालन करने तथा अन्य धर्मोचित कर्म करते हुए उनका वर्णन किया गया है–

"तपस्वहस्ता...." अपने हाथो से तोडे हुए फूलो से शङ्कर की पूजा करने वाले उस राजर्षि ने स्थण्डिल पर ही निवास करने से धूली से धूसरित होकर ऐसी उग्र तपस्या की जिससे महर्षि लोग भी तपस्या मे इससे नीचे हो गये।

"स सौकुमार्ये........." स्वभाव से ही अत्यन्त सुकुमार होने पर भी उसने तपस्वियो से भी अत्यन्त कठिनता से सहने योग्य क्लेश सहन किया। घोर तपस्या मे लगा हुआ वह राजा सूर्यमण्डल के निकट आए हुए चन्द्रमा के समान म्लान दिखाई पडने लगा।

दयावीर–

जहाँ पर राजा को अत्यन्त तेजस्वी तथा युद्धादि मे भीषण संग्राम करते, शत्रु–सैनिकों का वध करते तथा कठोर निर्णय लेते हुए दिखाया गया है, वहीं पर बिल्हण ने अपने महाकाव्य में राजा मे दया आदि मानवीय गुणों का भी सुन्दर मिश्रण होने का वर्णन किया है–

"सम्प्राप्त कुलकण्टकं " इसके अनन्तर चालुक्यवश के मुकुट राजा विक्रमाङ्कदेव ने सफल परिश्रम करने वाले योद्धाओ द्वारा जगल के मध्य मे पाये हुए कुलाङ्गर सिहदेव को, दया से उत्पन्न आसुओ के कारण गद्गद शब्दो से युक्त वाणी से बोलकर और उसको ढाढस देकर महलो की चोटियो पर चंचल मोती की मालाओ की चमक से कीर्ति के गुच्छो को प्रकट करने वाली कल्याणपुरी मे प्रवेश किया।

युद्धवीर–

मानवीय गुणो से युक्त होना, कलाओ का समादरकर्ता होना तथा विद्याओ मे नैपुण्य, राजा की विशिष्टता को बताने का माध्यम हुआ करता था लेकिन राजा का युद्धवीर होना किसी भी राजा का प्राथमिक अनिवार्य गुण था। सत्ता हमेशा से युद्धवीर के पक्ष मे रही है। इसी का उल्लेख बिल्हण ने भी किया है–

"मदकरटिन "

उत्कृष्ट प्रभाव वाले, मृढङ्ग के ऐसे वीरो के गम्भीर शब्दो को प्रकट करने वाले विक्रमाङ्कदेव ने मन्दराचल के समान मदोन्मत हाथी पर सवार होकर वेग से शत्रु सेनारूपी समुद्र को मथ डाला। अर्थात् शत्रु की सेना को नष्ट कर दिया।

"अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमि·।
वैदर्भरीतिः कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभप्रतिभू पदानाम्।।"

यहाँ 'अनभ्रवृष्टि' मुहावरे से यह व्यक्त किया गया है कि वैदर्भी शैली काव्यानन्द की सतत् सृष्टि अनायास ही सहज रीति से करती है। काव्य भाषा और कवि कल्पना की सहजता और स्वत· स्फूर्त रमणीयता वैदर्भी से ही प्राप्त होती है।

वैदर्भी शैली की पदयोजना मे अर्थाभिव्यक्ति की इसी प्रक्रिया को 'सौभाग्यलाभप्रतिभू' मुहावरे से अभिहित किया है। पदो के द्वारा अर्थ का अनायास समर्पण और कवि द्वारा काव्य घटनानुकूल पदार्थ का उपस्थापन ही काव्यसर्जन प्रक्रिया मे सौभाग्य–लाभ है। पदो का सौभाग्य काव्यार्थ के प्रकाशन मे सर्वथा और समुचित होने मे है। वैदर्भी पद को यही सौभाग्य प्राप्त कराती है। कवि की उक्त शैली से प्रभावित होते हुए कीथ ने लिखा है– बिल्हण की वैदर्भी शैली है, जिसमे बडे–बडे समास नही है। भाषा सरल है। अनुप्रास आदि शाब्दिक चमत्कारो की भरमार नही है। चौथे सर्ग मे आहवमल्ल की मृत्यु का दृश्य चित्रित करने मे उन्हे सबसे अधिक सफलता मिली है। महामहिम महाराज के अन्तकालिक औदात्य, उत्साह तथा कारूण्य का मार्मिक चित्रण प्रभविष्णु है।

अब बिल्हण की वैदर्भी शैली के काव्य–सौष्ठव का रसास्वादन करे। अपनी जन्मभूमि का वर्णन करते हुए वे कहते है–

ब्रूमस्तस्य प्रभमवसतेरद्भूताना कथानाम्।
किं श्रीकण्ठे श्वशुरशिखरिक्रोलीलाललाम्नः।।
एकों भाग· प्रकृति सुभग कुङ्कुम यस्य सूते।
द्राक्षामन्य· सरससरयूपुण्ड्रकच्छेदपाण्डुम।।

अर्थात् उस स्थान के विषय में क्या कहे, जो अद्भुत कथाओ की प्रथम वसति है। वह तो शिव के श्वसुर (हिमालय) की चोटी पर क्रीडापूर्ण अलङ्करण है। उसका एक भाग तो स्वभावतः मनोरम कुङ्कुम पैदा करता है और दूसरा अगूर उत्पन्न करता है, जो सरयू तट पर उत्पन्न सरस पौडे के पेड़ के कॉंटे के समान होते हैं।

उपर्युक्त श्लोक के द्वारा बिल्हण ने अपनी जन्मभूमि को बृहत्कथा का स्रोत प्रतिपादित किया है।

बिल्हण की प्रौढि प्राचीन साहित्यिको मे चिरकाल से प्रसिद्ध है। इनका कहना है कि कवीश्वरो के भावों को अन्य कवि कितना भी ग्रहण करते जॉय उसमे किसी प्रकार की न्यूनता नही आती। दैत्यो ने असड्ख्य रत्नो को छीन लिया तो भी आज समुद्र रत्नाकर ही बना हुआ है–

'गृण्हन्तु सर्वेयदि वा यथेष्ट नास्ति क्षति· कापि कवीश्वराणाम्।
रत्नेषु लुप्तेषु बहुष्वमर्त्येरद्यापि रत्नाकर एव सिन्धु।।'

बिल्हण राजाओं से कहते हैं कि कवियो से जीवन की सच्चाई जानकर सावधान बनो–

'स्वेच्छाभङ्गुरभाग्यमेधतडित शक्या न रोद्धु श्रिय।
प्राणानां सतत प्रयाणपटह श्रद्धा न विश्राम्यति।।
त्राणं येऽत्र यशोमये वपुषि व कुर्वन्ति काव्यामृतै।
तानाराध्य पदे विधत्त सुकवीन् निर्गर्व मुर्वीश्वरा।।

अर्थात् हे राजाओं! ऐश्वर्य श्री तो बिजली के समान अस्थायी है। उसे अपने पास रखने के लिए सदा रोके नही रख सकते। यहॉ से जाना है– यह घंटा सदा बज रहा है। अरे उन कवियो की आराधना करो, जो तुम्हारे यश शरीर को अपने काव्य के अमृत से अमर बना देगे।

'लङ्कापते· सङ्कुचितं यशोयत् यत् कीर्तित तं रघुराजपुत्र·।
स सर्व एवादिकवे प्रभावो न कोपनीयाः कवय· क्षितीन्द्रैः।।

अर्थात् कवियो को रुष्ट करना बुद्धिमत्ता का कार्य नही है। उनकी बलवती वाणी मे यह प्रभाव है कि वे युग–युग के लिए चिरस्मरणीय या निन्द्य बना सकते हैं। लङ्कापति रावण का यश सङ्कुचित हो गया और राम यश के पात्र हो गये, यह सब आदि कवि बाल्मीकि का ही प्रभाव है, अत राजा लोग कवियो को कदापि कुपित न करे।

'कर्णामृत सूक्तिरस्त विमुच्य दोषे प्रयत्न सुमहान् खलानाम्।
निरीक्षते केलिवन प्रविश्य क्रमेलक· कष्टकजालमेव।।'

अर्थात् दुर्जन लोग सुन्दर रसीली कविता को सुनकर भी उनके दोषो को खोजने मे ही लगे रहते है। सच हैं, सुन्दर केलिवन मे आने पर भी ऊँट केवल कॉटो को ही खोजता है। कोमल फलो तथा पत्तो की ओर उसकी दृष्टि कदापि नही जाती।

इस प्रकार प्रस्तुत काव्य मे प्रौढि तथा अनूठी सूक्तियों के साथ माधुर्य एव प्रसाद गुण रचना का लालित्य, भाषा का प्रवाह, कल्पना की स्पष्टता और रस की अभिव्यक्ति जुडी हुई है। वीररस तो प्रधान है ही परन्तु श्रृङ्गार तथा करूण रस का पुट भी कम मनोहर नही है। इसमे चतुर्थ सर्ग अत्यन्त प्रशंसनीय है। करूण रस को बडी सुचारता से भर दिया है। आहवमल्ल के अन्तकालीन वचनों का करूणोद्गार देखिए–

'जानामि करिकर्णान्तचञ्चल हतजीवितम्।
मम नान्यत्र विश्वास पार्वती जीवितेश्वरात्।।
उत्सङ्गे तुङ्गभद्रायास्तदेष शिवचिन्तया।
वाञ्छाम्यह निराकर्तुं देह ग्रहविडम्बनाम्।।'[1]

अर्थात् मेरी समझ मे जीवन वैसे ही चञ्चल है, जैसे हाथी के कान का सिरा। मुझे अब शिव को छोडकर अन्यत्र विश्वास नही रह गया। मैं शिव का चिन्तन करते हुए तुङ्गभद्रा नदी की गोद मे शरीर छोड देना चाहता हूँ।

अलंकार—

इस काव्य में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, अपह्नुति, भ्रान्तिमान आदि अलङ्कारो का प्रयोग भी समुचित रीति से किया गया है। निम्न श्लोको मे देखिए कैसी सुन्दर उत्प्रेक्षा है—

'एकत्र वासादवसानभाजस्ताम्बूललक्ष्म्या इव सस्मरन्ती।
वक्त्रेषु यद्वैरिविलासिनीना हास प्रभा तानवमाससाद।।
य वारिधि प्रज्वलदस्त्रजाल वेलावनान्तेषु नितान्तभीतः।
भूय. समुत्सारण कारणेन समागतं भार्गवमाशशङ्के।।'
'रत्नोत्कग्राहिषु यद्भदेषु तटत्रुटन्मौक्तिकशुक्ति भङ्ग्या।
अस्फोटयत्तीर शिलातलेषु रोषेण मूर्धानमिताम्बुराशिः।।
यं वीक्ष्य पाथोधिरधिज्यचाप शोणाश्मभि शोणितशोणदेहै·।
क्षोभादभीक्ष्ण रघुराजबाण जीर्णब्रणस्फोटमिवाचचक्षे।।'[2]

यहाँ उक्ति की भङ्गिमायें, भाषा की प्रसन्नता और भावो का उच्छल उद्रेक भी कवि का वैशिष्ट्य बता रहा है।

---

१. विक्रम. ४/५८, ५६

२. विक्रम. १/१०६—१०६

छन्द–

इस काव्य मे सरल छन्दो का प्रयोग किया गया है। छ सर्गों मे इन्द्रवज्रा, तीन मे वशस्थ, दो मे श्लोक तथा रथोद्धता और मन्दाक्रान्ता, पुष्पिताग्रा तथा स्वागता मे एक–एक सर्ग है। सर्गों के अन्त मे परिवर्धन के लिए शार्दूलविक्रीडित और बसततिलका प्रयुक्त है। बैतालीय की प्रचुरता १५वें सर्ग मे है। इस महाकाव्य मे महाकाव्य के लक्षण के अनुरूप ही छन्दो का प्रयोग किया गया है, अर्थात् एक सर्ग मे एक छन्द और सर्गान्त मे छन्द बदलने का नियम है। बिल्हण ने अपने काव्यवैदुष्य का परिचय देते हुए इस महाकाव्य मे अनेक छन्दो का प्रयोग किया है। प्रथम सर्ग मे उपेन्द्रवज्रा एव इन्द्रवज्रा, द्वितीय और तृतीय सर्ग में वशस्थ, चतुर्थ मे अनुष्टुप्, पचम मे रथोद्धता, षष्ठ मे पुष्पिताग्रा, सप्तम मे इन्द्रबज्रा, अष्टम् मे अनुष्टुप् नवम मे पुन इन्द्रवज्रा, दशम मे इन्द्रवज्रा, एकादश मे स्वागता, द्वादश एव त्रयोदश मे उपजाति, चतुर्दश मे रथोद्धता, पञ्चदश मे वियोगिनी, षोडश मे अनुष्टुप्, सप्तदश मे उपजाति और वशस्थ और अष्टादश मे मन्दाक्रान्ता आदि के प्रयोग कवि के छन्द सम्बन्धी ज्ञान के परिचायक है। इसी प्रकार छन्द मे कहीं शार्दूलविक्रीडित तो कही इन्द्रवज्रा, किसी सर्गान्त मे मालिनी, कहीं हरिणी आदि छन्दों का प्रयोग किया। कवि बिल्हण ने छन्दो का प्रयोग कथा के वर्ण्य–विषय के अनुरूप किया है। जैसे–कथा के विस्तार का संग्रह करने, उपदेश या वृतान्त कथन में अनुष्टुप् छन्द अनुपयुक्त माना गया है।[1]

रथोद्धता, चन्द्रोदय आदि उद्दीपन विभावो का वर्णन करने के लिए उपयुक्त

---

१. सुवृन्ततिलक– ३/१७

छन्द माना गया है।[1] इसी प्रकार वशस्य छन्द षड्गुण्यादि राजनीति सम्बन्धी विषयो का कथन करने के लिए सर्वथा उपयुक्त माना गया है।[2]

इसी प्रकार मालिनी सर्ग के अन्त मे द्रुततालादि के समान प्रयोगार्थ मानी गयी है।[3]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बिल्हण ने छन्दो के प्रयोग मे विशेष दक्षता का परिचय दिया है। उन्होने छन्दो का प्रयोग विषय एव लक्षण के अनुरूप किया है।

---

१. सुवृन्ततिलक– ३/१८
२. सुवृन्ततिलक– ३/१८
३. सुवृन्ततिलक– ३/१८

तृतीय अध्याय

१. विक्रमाङ्कदेवचरितम् में वर्णित समाज

२. आश्रम व्यवस्था

३. वर्ण व्यवस्था

४. परिवार का स्वरूप

५. विवाह

६. समाज में नारी का स्थान,

७. मनोरंजन

८. वाहन

९. सामाजिक विश्वास

विक्रमाङ्कदेवचरितम् में वर्णित समाज का गठन

बिल्हण का सामाजिक वर्णन उत्तर भारतीय सामाजिक सरचना, मध्य भारतीय सामाजिक सरचना तथा दक्षिण भारतीय सामाजिक सरचना का सम्मिलित दर्पण है जिसमे उनके यात्रानुभवो की स्पष्ट छाप दिखती है। सामाजिक जीवन पुरानी परम्पराओ के अनुसार ही चलता था जिसमे नई परिस्थितियो के दबाव से किञ्चित् परिवर्तन अवश्य हुए थे। 'ग्राम–कूट' सम्भवत गॉव का मुखिया था। भारत के सम्पूर्ण दीर्घकालीन इतिहास मे वह सरकार और गॉव के बीच कडी का कार्य करता था। वैदिक काल मे उसे 'ग्रामणी' कहते थे। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' मे उसे 'ग्राम–स्वामि' कहा गया है। अन्य चालुक्य अभिलेखो मे उसकी आख्या 'ग्राम भोजक' और 'ऊरेडिय' थी। 'महत्तर' गॉवो के विशिष्ट जन होते थे। जैसी उन व्यक्तियो की याग्यता होती, चरित्र होता और उनके पास सम्पत्ति होती उसी हिसाब से सरकार के प्रतिनिधियो और जनता मे उनकी प्रतिष्ठा होती थी। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार के विभिन्न श्रेणियो के अधिकारी होते थे। सस्कृत मे इनके लिए जिन शब्दो के प्रयोग मिलते हैं और अभिलेखो मे कन्नड मे जिन पदनामो का प्रयोग है, इन दोनो मे क्या संबंध था, यह स्पष्ट नही है।

वर्ण व्यवस्था–

विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे वर्णित वर्ण व्यवस्था जन्म से निर्धारित होती थी। वर्ण और व्यवसाय मे संबध अपरिवर्तनीय न थे। अभिलेखो तथा साहित्यिक स्रोतो मे ऊँची जातियो के बारे मे ज्यादा विवरण उपलब्ध है। सर्वसाधारण के बारे मे इनमे

सूचनाएं अपेक्षाकृत कम ही है। सामान्यत वैदिक काल से चली आ रही चातुर्वर्णव्यवस्था ही समकालीन परिस्थितियो मे भी जारी रही।

ब्राह्मण–

विक्रमाङ्कदेवचरितम् के अष्टादश सर्ग मे कौशिक गोत्रीय ब्राह्मणो का वर्णन प्राप्त होता है जो मध्य देश से लाकर कश्मीर मे बसाये गये थे। इन ब्राह्मणो का समाज मे महत्त्वपूर्ण स्थान था।

महाकवि बिल्हड ने ब्राह्मणो को मध्य देश से लाकर कश्मीर मे बसाने का उल्लेख किया है।

कर्तु कीर्तिप्रणयि कुशला कौशिक गौत्रमुच्चैस्तत्र ब्रह्मप्रवणमनसो ब्राह्मणा केचिदासन्।
यान्काश्मीरक्षितितिलकता मध्यदेशावतसान् गोपादित्यक्षितिक्षितिपतिरसौ पावनानानिनाय।।

[1]उस खोनमुष गाव मे कौशिक गोत्र को अत्यन्त कीर्तिशाली बनाने मे, वेदाध्ययन मे कुशल या परब्रह्म के ज्ञान मे तत्पर कुछ ब्राह्मण निवास करते थे। गोपादित्य नामक प्रसिद्ध काश्मीर के राजा ने मध्य प्रदेश से लाकर उन ब्राह्मणो को काश्मीर की शोभा बढाने वाला बनाया।

बिल्हड ने स्वयं ही ब्राह्मणो के गुणो का वर्णन अष्टादश सर्ग मे यत्र–तत्र किया है, शारीरिक बनावट की दृष्टि से ये गौर वर्ण के होते थे। ये परम यशस्वी एव बुद्धिमान थे। दान मे मिले अन्न के द्वारा जीविकोपार्जन को अपना धर्म समझते थे। इस प्रकार इस महाकाव्य मे ब्राह्मणों का स्वरूप परम्परागत रूप मे वर्णित है। ये

---

१ विक्रम. अष्टादशः सर्गः ७३

अन्य वर्णो की अपेक्षा अधिक विद्वान् आध्यात्मिक कर्म करने वाले तथा निरतर यज्ञ कर्म मे सलग्न रहते थे। जिनके यज्ञो से इन्द्र भी भयभीत रहते थे।

कीर्ति येषा शतमखसखीमुत्सुकानामवाप्तु
धूमस्तोमे मखपरिचिते पूरयत्यन्तरिक्षम्।
नो केषाञ्चिद्वचनमशृणोन्नाकरोन्नाकचिन्ता
शक्रश्चित्रार्पित इव पर छाययाभूद्दरिद्र ।।[१]

इन्द्र के समान कीर्ति प्राप्त करने के लिए उत्सुक जिन ब्राह्मणो के (शत) यज्ञो के धुओ से आकाश आच्छादित हो जाने पर, इन्द्र किसी देव की बाते नही सुनता था न तो स्वर्ग की रक्षा की चिन्ता ही करता था किन्तु चित्र मे अङ्कित होने के समान मरयैला अर्थात् काति रहित हो गया था। तात्पर्य यह है कि सौ यज्ञ होते देख अपना पदच्युत न हो इस भय से कान्तिविहीन हो गया था।

क्षत्रिय–

राजनीतिक व्यवस्था का पूर्णदायित्व क्षत्रियो पर था। देश की रक्षा, प्रजापालन, एव शत्रु राजाओ को परास्त करने के लिए युद्धादि करना क्षत्रियो के प्रमुख कर्त्तव्य थे। क्षत्रिय राजाओ के इतिहास से ये सम्पूर्ण महाकाव्य भरा हुआ है। राजा पराक्रमी, शौर्यवान्, तेजस्वी एवं कर्त्तव्यनिष्ठ होते थे। लोहरकिले के स्वामी परम–पराक्रमी क्षितिराज का वर्णन करते हुए कवि इस प्रकार कहता है–

---

१. विक्रम. अष्टादश. सर्ग: ७४

"यस्या भ्राता क्षितिपतिरिति क्षात्रतेजोनिधान
भोजक्ष्माभृत्सदृशमहिमा लोहराखण्डलोऽभूत्।
शङ्के लक्ष्म्याः शिरसि चरण न्यस्य वक्ष स्थिताया
प्राप्ता लीलातिलकतुलना यन्मुखे सूक्तिदेवी।।[1]

क्षत्रियो के अधिकार एव कर्त्तव्य का विस्तृत विवरण इस शोध–प्रबन्ध के पॉचवे अध्याय मे दिया जायेगा।

वैश्य–

इस महाकाव्य मे वैश्य वर्ग का स्वल्प वर्णन प्राप्त होता है। वर्ण व्यवस्था के अतर्गत वैश्यो का तृतीय स्थान था किन्तु इस महाकाव्य मे न तो वैश्य शब्द का और न ही उनके कर्त्तव्यो के वर्णन प्राप्त होते है, किन्तु विभिन्न व्यापार कर्म मे लिप्त अनेक व्यापारियो के चित्रण अवश्य मिलते है। इस युग तक व्यापारिक नियम बन गये थे जिनका उल्लेख अभिलेखो[2] मे भी प्राप्त होता है।

विभिन्न प्रकार के व्यापार की जो जानकारी इस महाकाव्य के द्वारा प्राप्त होती है। उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि समाज मे वैश्य व्यापारियो के रूप मे प्रतिष्ठित थे। वे कृषि कर्म भी करते थे। किन्तु कृषि किस प्रकार करते थे, किस ऋतु मे कौन सी फसले बोयी जाती थी, इत्यादि का प्रत्यक्ष वर्णन नही प्राप्त होता है। इस प्रकार इस महाकाव्य मे वैश्यो के विषय मे जो भी वर्णन प्राप्त होते हैं वह प्रत्यक्ष रूप में न होकर परोक्षरूप मे ही है।

---

१. विक्रम. १८/४७
२. कोल्हापुर से प्राप्त अभिलेख– ११३५ ई

दास–दासियाँ–

इस महाकाव्य मे शूद्र शब्द का उल्लेख नही मिलता। राजमहलो एव राजदरबारो मे दास–दासियो के उल्लेख प्राप्त होते हैं जिनका मुख्य कार्य राजमहिषियो एव राजाओं की सेवा करना था। वे यदा–कदा रानी का सदेश राजा के पास ले आने व ले जाने का कार्य भी करते थे। परिचारिकाए रानी की सेवा के अतिरिक्त उनके शृंगार वस्त्राभूषण आदि की देखरेख का भी कार्य करती थी।

कभी–कभी आवश्यकता पडने पर सेवकगण राजाओ के साथ युद्धस्थल मे भी जाते थे और सम्पूर्णकाल में वे राजा एव सेनापतियो की सेवा मे लगे रहते थे।

राजमहल के द्वारो पर दास–दासियो की नियुक्ति रहती थी। वे राजमहल के राजकार्य सचालन में सहयोग देते थे बिल्हण ने दास एवं दासियो के पहरा देने का वर्णन किया है–

वैतालिकानां तुमुल निवार्य तत कुमार्य सुकुमारकण्ठी।
उदाजहार प्रतिहाररक्षी क्रमेण चक्र पृथिवीपतीनाम्।।[1]

सब तैयारी हो जाने पर, कोमल कण्ठ ध्वनि वाली, रानियों के महल के फाटक पर पहरा देने वाली दासी ने भाटो के भयंकर कोलाहल को शांत कर कुमारी चन्दल देवी को राजाओं का अर्थात् प्रत्येक राजा का परिचय कराया।

विक्रमाङ्कदेवचरितम् में राजकुमारी के सहयोग व सुश्रूषा हेतु प्रतिहारी नामक सेविका का वर्णन आया है जो राजकुमारी की प्रशंसा व परिचय आदि कार्य करती थी जैसा कि चन्द्रलेखा के सन्दर्भ मे–

प्रदर्शयामास तत कुमार्या क्षितीशंमन्य प्रतिहाररक्षी।
चूतानुबन्धे मधुपाङ्गनाया मुग्धा मधुश्रीरिव कर्णिकारम्।।[1]

इसके बाद प्रतिहारी ने राजकुमारी चन्द्रलेखा को मुग्धावस्था को प्राप्त वसन्त की शोभा द्वारा भ्रमरी के आम की मञ्जरी पर जाने का मन रहने पर कनैल को दिखाने के समान, किसी दूसरे राजा को दिखाया।

आश्रम व्यवस्था–

आश्रमो मे 'गृहस्थाश्रम' ने काफी पहले महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था क्योंकि समाज का मेरुदण्ड वही था। इस काल मे भी उसने अपना वह स्थान सुरक्षित रखा। नागै के अभिलेख मे कालिदास दण्डनायक की सद्गृहस्थ के रुप में प्रशसा करते हुए एक श्लोक आया हे। इसका उदाहरण दिया जा सकता है। गृहस्थ के रुप मे उसका जीवन ससार भर मे सबसे पवित्र था। इसकी धर्मपरायण आत्मा सदा ब्राह्मणो को संतुष्ट करने, यज्ञ, देवपूजा और पितरो को प्रसन्न करने मे, अतिथि सत्कार करने और पितरो को प्रसन्न करने मे, अतिथि सत्कार करने और लोक और शास्त्र मे वर्णित दैनिक और विशेष अवसरों के लिए निर्धारित अनुष्ठान करने मे लीन रहती थी।

गृहस्थ आश्रम के वर्णन के विषय मे विक्रमाङ्कदेवचरितम् में वर्णित आश्रम के महत्त्व का चित्रण प्रस्तुत है–

"अथ समुचिते कर्मण्यास्थापरेण पुरोधसा
कथितमवनीनाथ सर्वं विधाय विधानवित्।
प्रतिमुहुरसौ सूनुस्पर्शान्महोत्सवमन्वभू
दिह हि गृहिणा गार्हस्थस्य प्रधानमिद फलम्।।[1]

पुत्र जन्म होने के अनन्तर शास्त्रीय विधियो को जानने वाले उस राजा ने श्रृद्धालु कुल पुरोहित द्वारा कथित पुत्र जन्म के लिए उचित सब जातकर्म आदि धर्म कृत्यो को विधिवत् कर पुत्र–देह के प्रत्येक स्पर्श के अवसर से बार–बार उत्सव आनन्द का अनुभव किया क्योकि इस ससार मे गृहस्थाश्रम मे रहने वालो के लिए गार्हस्थ धर्म का पुत्र प्राप्ति ही मुख्य फल है।

ऋणो से मुक्ति के लिए गृहस्थ को गृहस्थाश्रम जनित कर्म तथा आश्रमोचित कर्म न करने से होने वाली हानियो के सदर्भ मे कहा गया है।

किमश्वमेधप्रभृतिक्रियाक्रमै सुतोऽस्ति चेन्नोभयलोक बान्धव।
ऋण पितृणामपनेतुमक्षमा कथ लभन्ते गृहमेधिन. शुभम्।।[2]

यदि इस लोक और परलोक दोनो मे साथ देनेवाला पुत्र न हुआ तो अश्वमेध आदि यज्ञो के करने से क्या लाभ है। पितृऋण से मुक्त होने मे असमर्थ गृहस्थ लोगो का कैसे कल्याण हो सकता है।

पुंसवन, सीमन्तोनयन आदि सस्कारो की प्रतिष्ठा एव उनकी सामाजिक स्वीकार्यता का वर्णन करने वाला श्लोक प्रस्तुत है–

---

१. विक्रम. द्वितीय सर्गः ६१
२. विक्रम. द्वितीय सर्गः ३४

कृतेषु सर्वेष्वथ शास्त्रवर्त्मना यथाक्रम पुसवनादि कर्मसु
विशेषचिन्हैर्निजमीशितु क्षितेर्वधू समासन्नफलन्यवेदयत्।[1]

इसके अनन्तर पृथ्वी के स्वामी की स्त्री रानी ने धर्मशास्त्र के अनुसार क्रम से पुसवन, सीमन्तोन्नयन प्रभृत सस्कारो के सम्पादित होने पर, विशेष लक्षणो से, शीघ्र होने वाले अपने पुत्र रुप फल की सूचना दी।

परिवार का स्वरूप–

परिवार एकतंत्र आनुवाशिक प्रणाली पर आधारित था। आमतौर पर राजा के बाद उसका सबसे बडा बेटा राजा होता था। विक्रमादित्य पञ्चम और उसके भाई गद्दी पर इसलिए बैठे थे क्योंकि इरिव–बेदग के कोई पुत्र न था। यहॉ तक की विक्रमादित्य षष्ठम् ने भी, जिसने अपने बडे भाई से युद्ध किया था सिहासन पर सबसे बडे भाई के उत्तराधिकार को चुनौती नही दी थी।

सामान्यत. बड़ा भाई ही उत्तराधिकारी बनता था। परिवार मे वरिष्ठ या ज्येष्ठ पुत्र ही मुख्यिा बनता था। वही परिवार के भरण पोषण देखरेख आदि कर्त्तव्यो का निर्वाह करता था। ज्येष्ठ पुत्र ही परिवार की देखरेख के साथ राज्य पाने का अधिकारी भी बनता था, जैसा कि इस सबध मे स्वय बिल्हण कहते है–

'विचारचातुर्यमपाकरोति तातस्य भूयान्मयि पक्षपात.।
ज्येष्ठे तनुजे सति सोमदेवे न यौवराज्येऽस्तिममाधिकार'।।[2]

इस महाकाव्य में प्राप्त 'कुल शब्द' के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि इस

---

१. विक्रम. द्वितीय सर्गः ७८

२. विक्रम. तृतीयः सर्गः, ३५

युग मे सम्मिलित परिवार प्रथा प्रचलित थी परिवार मे माता–पिता, भाई–बहन, पति–पत्नी, पुत्र–पुत्रवधू आदि सभी सदस्यो की मुख्य भूमिकाये महत्त्वपूर्ण थी। छोटा भाई बडे भाई के लिए त्याग करता था यह आदर्श रामायण काल से प्रारम्भ हुआ और इस युग तक अक्षुण्ण बना रहा। विक्रमाङ्कदेव अपने ज्येष्ठ भ्राता सोमेश्वर के लिए राजलक्ष्मी का त्याग करते है क्योकि यही न्यायोचित था वह दिग्भ्रमित अपने पिता को परामर्श देते हुए कहते है कि 'यदि मै अपने बडे भाई सोमदेव को क्रमप्राप्त राजलक्ष्मी के न प्राप्त होने से उदास बनाकर स्वय लक्ष्मी के प्रेम मे तत्पर हो जाऊँ, तो अन्याय युक्त कार्य करने मे तत्पर, मैंने ही इस शुद्ध चालुक्य वश मे कलक लगाया और क्या अन्याय का कार्य हो सकता है?'

राजाओ के वंशावलियो का चित्रण करना ही इस काव्य का मुख्य विषय होने के कारण परिवार का विस्तृत वर्णन इस महाकाव्य मे नही प्राप्त होता। परिवार के प्रत्येक सदस्य अन्य किस प्रकार से पारिवारिक कर्त्तव्यो का निर्वाह करते थे इसका भी उल्लेख नही प्राप्त होता है।

विवाह–

११वी शताब्दी मे विवाह प्रथा के विषय मे जो भी जानकारी उपलब्ध है उसमे विक्रमाङ्कदेव के श्रोत ही मुख्य है, तथा उन्ही के आधार पर हम वैवाहिक–विधियों का उल्लेख करेगे। यद्यपि राजा युद्ध की विजयो के फलस्वरूप विजय की स्मृति मे पराजित राजा की पुत्री या बहन से विवाह कर लेता था तथापि कभी–कभी राजनैतिक लाभ के लिए भी वैवाहिक सबध स्थापित किये जाते थे तथा ये वैवाहिक संबंध कभी–कभी आर्थिक, राजनैतिक, तथा सीमा सुरक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण

सिद्ध होते थे। चोल देश के राजा के साथ वैवाहिक सबध बनाकर कल्याणी नरेश विक्रमाङ्कदेव ने उस समय के सबसे बहादुर नरेश को अपने रिश्तो के बधन मे बॉधकर नि शक राज्य करने का मार्ग प्रशस्त किया था।

स्वयंवर प्रथा–

सामान्यत उच्च वर मे विवाह की स्वयवर प्रथा प्रचलित थी स्वयवर के माध्यम से ही कन्या वर का चयन करती थी। इसमें कई देशों से विवाह के इच्छुक बहादुर राजा पुत्री के पिता की ओर से आमंत्रित किए जाते थे तथा उनमे आए हुए सभी राजाओ मे सर्वश्रेष्ठ का चयन कन्या द्वारा वरमाला पहनाकर किया जाता था। बिल्हण ने अपने ग्रथ मे स्वयवर पूर्वक विवाह का वर्णन किया है–

लज्जानिरासे निभमात्रकेण वाक्येन तेन प्रतिहाररक्ष्या।
पतिवरा सवरणस्रज ता श्रीविक्रमाङ्कस्य चकार कण्ठे।।[१]

"स्वयवर उत्सव मे पति को चुननेवाली चन्दलदेवी ने लज्जा को दूर करने मे मिषमात्र प्रतिहारी के पूर्वोक्त वचन से उस स्वयवर की माला को विक्रमाङ्कदेव के गले मे पहना दिया अर्थात् विक्रमाङ्कदेव को देखते ही उसकी लज्जा दूर हो गई थी। दूती का वचन केवल लज्जा दूर करने मे मिषमात्र हुआ।"

स्वयवर मे राजा द्वारा कन्या को स्वयंवरपूर्वक विजित करना राज' के पुरूषार्थ व पराक्रम का परिचायक माना जाता था तथा राजा के इस पुरूषार्थ सिद्धि पर ढोल नगाड़े पीटकर उसका सम्मान किया जाता था। जैसे कि स्वयं बिल्हण ने

---

१. विक्रम. नवमः सर्गः १४७

लिखा है–

'तया स्रजा कण्ठनिवेशभाजा मत्तालिमालाकलझाङ्कृतेन।
अवाद्यतेवाखिलभूमिपाल–सौभाग्यलीलाजयडिण्डिमोऽस्य'।।[1]

"विक्रमाङ्कदेव के गले मे स्थान प्राप्त करने वाली उस स्वयवरमाला ने मदोन्मत्त भ्रमरो की पक्ति के सुन्दर झकारो से मानो समग्र राजाओ की सौभाग्यलीला पर विक्रमाङ्कदेव के विजय प्राप्त करने का नगाडा पीटा।"

इस प्रकार स्वयवर का वर्णन इस महाकाव्य मे अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट होता है कि तत्कालीन नरेशो मे यह विवाह की मुख्य विधि थी।

स्वयंवर चित्रण–

विवाह के सदर्भ मे स्वयवर का महत्त्वपूर्ण स्थान था। राजकुमारियो के विवाह के निमित राजागण (उनके पिता) भिन्न–भिन्न देशो से राजाओ को आमन्त्रित करते थे तथा पुत्री विवाह हेतु विशाल स्वयवर समारोह की आयोजना करते थे। इस प्रकार वैवाहिक कार्यक्रम समारोह पूर्वक सम्पन्न करने की परम्परा थी। कुन्तल राजा ने अपनी पुत्री चन्दलदेवी के विवाह के लिए विशाल स्वयवर की सरचना की थी। जैसा कि बिल्हण ने स्वयं लिखा है–

'स्वयंवरस्यावसरोऽपि जात प्रसीद भूपाल कुरू प्रयाणम्।
असौ जयश्रीरिव ते द्वितीया सर्वान्विनिर्धूय वधूत्वमेतु।।'[2]

---

१. विक्रम. नवमः सर्गः १४८

२. विक्रम. नवमः सर्गः ३८

"हे राजा! स्वयवर का दिन भी आ गया है। कृपा करिये। स्वयंवर के लिए प्रस्थान कीजिए। यह चन्दलदेवी दूसरी विजयलक्ष्मी के समान स्वयवर मे उपस्थित सब राजाओ का तिरस्कार कर आपकी भार्या बने।"

'प्रणम्य तेनाथ निवेद्यमान–मार्ग कृता शेषयथोचितेन।
श्रीकुन्तलेन्द्र प्रविवेश भूमि स्वयम्वरोत्कण्ठितराजचक्राम्।।"[1]

बहुविवाह प्रथा–

इस युग में समाज मे बहुविवाह प्रथा खूब प्रचलित थी। राजाओ के राजमहलो के अन्त पुर मे अनेक रानियो की स्थिति का वर्णन यत्र–तत्र इस काल के कुछ साहित्यिक तथा कुछ अभिलेखीय प्रमाणो से ज्ञात होता है। इससे स्पष्ट है कि राजागण एकाधिक विवाह करते थे। विक्रमाङ्कदेवचरितम् के नायक विक्रमादित्य षष्ठ ने स्वय अनेक विवाह किए थे जिनमे अक्कादेवी का उल्लेख युद्धो तथा सैन्य–सचालन के लिए, केतल देवी का एक विदुषी तथा सगीत मे निपुण रानी के रूप मे, चन्दल देवी के स्वयवर का विषद वर्णन विक्रमाङ्कदेवचरितम् के नवम् सर्ग मे मिलता है। चोलराज की पुत्री से विवाह तत्कालीन राजाओ के बहुविवाह का प्रमाण है। विक्रमाङ्कदेव के अनेक रानियो का चित्रण करते हुए बिल्हण ने लिखा है–

'नेत्राणि धात्रीतिलकाङ्गनाना तरङ्गलेखाहृतकज्जलानि।
शाणोपलान्दोलननिष्कलङ्क–कामास्त्रमैत्रीं कलयागबभूवुः।।[2]

"पृथ्वी के आभूषण रूप राजा विक्रमाङ्कदेव की स्त्रियों की, वापी में स्नान

---

१. विक्रमः नवमः सर्गः ४२ से लेकर सर्गान्त १५१ तक स्वयंवर वर्णन ही है।
२. विक्रम. द्वादशः सर्गः ७४

करने से वापी की लहरों से मिटाए गए कज्जलो वाली ऑखे, सान पर रगडने से साफ तथा तीक्ष्ण कामदेव के अस्त्रो की समानता करने लगी।"

कभी–कभी राजागण अपने स्वार्थपूर्ति या अपने राजनैतिक हित को ध्यान मे रखकर भी एकाधिक विवाह कर लेते थे, जैसाकि विक्रमाङ्कदेव ने स्वय अपने राजनैतिक लाभ अर्थात् अपने राज्य की दक्षिणी सीमा को सुरक्षित करने के लिए चोल नरेश की पुत्री से विवाह किया। उस समय चोल नरेश कल्याणी के चालुक्यो का सर्वाधिक सशक्त सीमावर्ती राज्य था, उससे वैवाहिक सबध होने से उससे आक्रमण का भय समाप्त हो गया।

इस प्रकार बहुविवाह प्रथा राजाओ मे सर्वप्रसिद्ध थी।

समाज में नारी का स्थान–

भारत के इतिहास में विभिन्न कालो मे विभिन्न स्थानो मे नारी का स्थान परिस्थितियो के अनुरूप अलग–अलग रहा है। कल्याणी के चालुक्यों के काल मे बादामी के चालुक्यों की ही भॉति सामाजिक स्थिति सार्वजनिक जीवन मे स्त्रियो के भाग लेने के अनुकूल थी, कम से कम समाज के उच्च वर्गो मे तो यही स्थिति थी।

कतिपय स्त्रियों का चित्रण उल्लेखनीय है जिनमें सबसे ऊँचा स्थान अक्कादेवी का है। यह महिला युद्धो मे भाग लेती थी, और सेना का सचालन भी करती थी। १०८४ ई० के 'सूडि के अभिलेख' मे विक्रमादित्य षष्ठम् की रानी लक्ष्मा देवी का उल्लेख कल्याणी में उसी प्रकार शासन करते हुआ है जैसे स्वयं सम्राट का। किन्तु इससे पहले रानी के लिए जिन विशेषणो का प्रयोग हुआ, इनमे– इन्दीवरलोचना,

सुदृश, सूरागना[1] आदि है।

इससे यही अनुमान होता है कि लक्ष्मादेवी मे सभी गुण थे जिनके कारण वे महलो की शोभा बढाती थी और जिन गुणो के कारण वह राजा का स्नेह पाने वालियो म्रे प्रथम स्थान प्राप्त की थी। इस प्रकार उसने अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को सुरक्षित बनाये रखा था। वह सुन्दर थी, यौवन से भरपूर थी, सभी कलाओ मे निपुण थी, धर्मपरायणा थी, और पुण्यात्मा थी, जिसके कारण जनता उसे प्यार करती थी।

इस युग में स्त्रियॉ पति–परायणा होती थी। पति के सुख–दु ख मे बराबर की भागीदारी रखती थी। पति के तपश्चर्या के निमित्त वन जाने पर स्वय भी वनगमन करती थी, और उनके धार्मिक कृत्यो मे सहायता करती थी, जैसे तपस्या हेतु आहवमल्लदेव के वनगमन करते समय उनकी पत्नी ने पुत्र प्राप्ति के लिए तपस्या करते समय उनकी यथाशक्ति सेवा की। उपर्युक्त विवरण के आधार पर हम नारी को अभीष्ट प्राप्ति हेतु कठोर आध्यात्मिक कृत्य मे प्रवृत्त पाते हैं जो नारी की उच्च इच्छा शक्ति वाली होने का परिचायक है। बिल्हण ने तपश्चर्या मे प्रवृत्त आहवमल्ल की रानी द्वारा की जाने वाली सेवाओ का वर्णन किया है–

'नृपं कठोरव्रतचर्यया कृश समाहिता सा नरनाथसुन्दरी।
निशातशाणोल्लिखित समन्वगात् प्रभेव माणिक्यमतीव निर्मला।'[2]

एक अन्य उल्लेख भी प्रासङ्गिक है–

---

१. विक्रमाङ्कदेवचरितम्।

२. विक्रम. द्वितीय सर्गः ४६

'सिद्धैरध्यासिततटभुव स्नातसप्तर्षिहस्त–
न्यस्तभ्राम्यात्तिलतिलकितस्रोतसो मानसस्य।
यत्कान्ताभि शिरसि विधृता सारसौभाग्यालोभात्
कैलासस्थतिनयनवध धूक्षालिताङ्गास्तरङ्गा।'[1]

इस समय तक कुछ स्त्रियो मे इतनी चातुरी आ गई थी कि वह अपनी प्रतिद्वन्द्विनी सभी महिलाओ को नीचा दिखा सकती थी। क्या इस प्रकार की महिलाएँ सार्वजनिक कार्यो को प्रभावित कर सकती थी? यदि हॉ तो किस सीमा तक और किस रूप में।

इन प्रश्नों का उत्तर आसानी से नही दिया जा सकता किन्तु बिल्हण की रचना के आलोक मे इन पर प्रकाश डाला जा सकता है। इस युग तक राजकुमारो को जो शिक्षा दी जाती थी उसमे स्त्रियो के दुर्गुण पर व्याख्यान अवश्य दिए जाते थे। विक्रमादित्य की एक अन्य रानी केतलदेवी बडी विदुषी और सगीत मे निपुण थी। सामन्तो मे होयसल बल्लाल प्रथम की तीनो रानियॉ पद्मलदेवी, चावलीदेवी, और वोप्पदेवी, नृत्य और सगीत में निष्णात् थी। इस समय तक स्त्रियॉ राजनीति के क्षेत्र मे भी भाग लेने लगी थी एव शासन की देखरेख मे सहयोग करने लगी थी, जैसे–

'तथेति देव्या कृतसम्मतिस्तत समस्तचिन्ता विनिवेश्य मन्त्रिषु।
अभूदनुष्ठानविशेषतत्परः स पार्थिव प्राथितवस्तुसिद्धये।।'[2]

विक्रमाङ्कदेवचरितम् में वर्णित चन्द्रलेखा की गायन एवं नर्तनकला का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत है–

---

१. विक्रम. अष्टादशः सर्गः ३६
२. विक्रम. द्वितीयः सर्गः ४३

"लास्याभ्यासमिषेण चित्रमनया गात्रार्पण शिक्षितं।
लीलापञ्चमदोलनेन दलिता कण्ठस्य कुण्ठा गति।।
कि वा वर्णनया समस्तलटभालङ्कारतामेष्यति।
स्वल्पेनैव परिश्रमेण रमणी देवस्य रामागुरो।।"[1]

कलचुरि सोविदेव की रानी सावलिदेवी इन कलाओ मे निपुण तो थी ही, साथ ही वह अपनी कलाओ का प्रदर्शन भी करती थी। यह स्त्री स्वातत्र्य का उदाहरण है जो उस काल के लिए एक सामान्य सी बात है। बतलाया गया है कि उसने एक ऐसी सभा मे अपनी कला का प्रदर्शन किया था जिसमे उसके देश के ही नही बल्कि विदेशों के भी कलामर्मज्ञ एकत्र हुए थे। उसने अपनी कला से श्रोताओ एव स्वय सम्राट का मनमोह लिया था। सगीत तो उसकी घुट्टी मे था।

उसका भाई ब्रह्मवीणा के ताल और लय का आचार्य था। एक अन्य कुलीन महिला का परिचय यहॉ देना प्रासङ्गिक है।

त्रिभुवनमल्लमल्लिदेव चोल महाराज की रानी लक्ष्मादेवी ने पट्टमहिषी के रूप में राजा के साथ शासन किया था। वह काव्य में निपुण थी साथ ही मधुर कण्ठ, वाद्य–संगीत और नृत्य में भी पटु थी, वह पार्वती के चरणकमलो की सतत् उपासिका थी। उसने इतने दान दिए थे कि सकल्प के जल से उसके आसपास की भूमि सदा भीगी रहती थी। उसने कवियो, शास्त्रार्थियो, और चारणो को (दान देकर) प्रसन्न किया था। वह चलती थी तो उसके नूपरों की कलध्वनि से आकर्षित हो राजहंस उसके पास खिंचे चले जाते थे। वह अपनी कलाइयो, बाहुओं, पैरों और केशों में रत्नजटित आभूषण धारण करती थी।

---

१. विक्रम. अष्टमः सर्गः ८७

विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे वर्णित नृत्यकला का वर्णन दृष्टव्य है–

'लास्य त्वयि प्रेक्षितुमागतायालतापुञ्ज्य कुसुमै पतद्भि ।
मृगाक्षि लीलावनरङ्गपीठे पुष्पाञ्जलिक्षेपमिवोद्वहन्ति ।।'[1]

विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे नारियो के सगीत नैपुण्य का अनेक स्थलो पर वर्णन मिलता है–

'पुस्कोकिलस्ते मधुमासलक्ष्म्या गान्धर्वसर्वस्वविशारदाया ।
प्रकाशितु शिष्य इवैष पश्य राग मुहु पञ्चममातनोति ।।'[2]

बिल्हण ने अपने नायक विक्रमादित्य द्वारा कमल सरोवरो, प्रमदवनो मे तथा झूले पर कामिनियो के साथ केलि का विशद वर्णन किया है किन्तु यह उस काल के दरबारी जीवन का वास्तविक चित्र नहीं है। यहॉ तक कि अभिलेखो मे रानियो और कुलीन महिलाओ के गुणो का जो आलकारिक वर्णन आया है, इसे भी हम यथावत सही नहीं मान सकते किन्तु इसके पर्याप्त प्रमाण प्राप्त है जिनमे यह सिद्ध होता है कि स्त्रियो के लिए ललित शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध था और हर पीढी मे वे इस प्रकार की शिक्षा प्राप्त करती थी। कामिनियो के झूलने एव केलि का वर्णन प्रस्तुत है–

१. विक्रम. दशमः सर्गः २३
२. विक्रम. दशमः सर्गः २६

'दोलाया जघनस्थलेन चलता लोलेक्षणा लज्जते
धत्ते दिक्षु निरीक्षण स्मितमुखी पारावताना रूतै।
स्पर्श कण्टक कोटिभि कुटिलया लीलावने नेष्यते
सज्ज मौग्ध्यविसर्जनाय सुतनो शृङ्गारमित्र वय।।'[१]

विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे वर्णित ललितकला मे नारियो की दक्षता का वर्णन प्रस्तुत है–

इस प्रकार जहॉ खेलकूद स्वास्थ्य की दृष्टि से लाभकारी थे, वही पर वे मनोरजन के उत्तम साधन भी सिद्ध होते थे।

विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे शतरज, चौपड आदि खेलो के भी खेले जाने के प्रमाण मिलते हैं। ये एक अंत क्षेत्र (Indoor) खेल होता था जिसमे घर की महिलाए विशेष रूचि लेती थी।

"गण्डे मण्डनमात्मनैव कुरूते वैदग्ध्यगर्वादसौ,
त्यक्त्वा हेमविभूषणानि तनुते ताडीदलेष्वाग्रहम्।।
मन्दा कन्दुकखेलनाय भजते सारीषु शिक्षारसं,
तन्व्या चित्रमकाण्ड एव लटभाभावे निबद्धो भर।।"[२]

"यह चन्द्रलेखा अपनी चतुराई के अभिमान से अपने हाथ से ही अपने गालो पर चित्रकारी करती है। सोने के बने आभूषणों को छोडकर ताल के पत्तों को आभूषण के रूप में धारण करने में आग्रह करती है। स्तन, नितम्ब आदि के बोझ से गेंद खेलने में असमर्थ होकर शतरंज, चौपड आदि बैठकर खेले जाने वाले खेलो को

---

१. विक्रम. अष्टमः सर्गः ८६
२. विक्रम. अष्टमः सर्गः ८२

सीखने की अभिरूचि दिखती है। स्थूल शरीर वाली चन्द्रलेखा ने अचानक ही सुन्दरी स्त्री के कर्त्तव्यों मे जिद पकड ली, यह आश्यर्च है अर्थात् सुन्दरी स्त्रियां जैसा अपना श्रृगार आदि करती है वैसा ही वह भी करने लगी।"

संगीत – नृत्यंगीतं वाद्यं च त्रयमेतत् सङ्गीतकम्।

नर्तन, गायन एव वादन प्राचीन काल से सर्वसुलभ मनोरजन के प्रमुख साधन रहे है। यद्यपि समय–समय पर इसमे विकास एव परिवर्त्तन आता रहा फिर भी सगीत का विकसित एव प्राचीन रूप जन–सामान्य मे मनोरजन का साधन बना रहा। मनोरजन के निमित्त सगीत की शिक्षा प्राप्त करना तथा मनोरजनार्थ सगीत का प्रदर्शन करना कुछ लोगो का व्यवसाय बन गया था। जैसे– नर्तकियॉ एव वेश्याऐ भी नृत्यादि पूर्वक अपना मनोरजन करती थी। बिल्हण के ग्रथ मे इसके प्रमाण मिलते है–

> "पुरन्ध्रिनृत्येषु विनिर्यदशुभि प्रसर्पदानन्दजलैरिवेक्षणै.।
> श्रिय सजीवा इव यत्र सन्तत वहन्ति रत्नोत्करशालभञ्जिकाः।।"[1]
> "वितानरत्नप्रतिबिम्बडम्बरैर्वहन्ति यत्प्राङ्गणसीम्नि लासिकाः।
> अवाप्तविद्याधरराजसुन्दरी पदा इव व्योम्नि विहर्तुमुद्याता.।।"[2]

मनोरंजन–

ग्यारहवीं शताब्दी में मनोरंजन के साधनों में किसी नवीन आविष्कार का उल्लेख नहीं मिलता है। मनोरंजन के साधन लगभग परम्परागत ही थे। जहॉ पर

---

१. विक्रम. सप्तदशः सर्गः २०
२. विक्रम. सप्तदशः सर्गः २१

निम्नवर्गीय समाज में बदरों को नचाकर, मुर्गे लडाकर तथा क्षेत्रीय स्तर पर गायन, वादन आदि के द्वारा मनोरजन किया जाता था वही पर सम्पन्न वर्ग मे तोते पालना, वेश्याओ तथा नर्तकियो के नर्तन से मनोरजन किया जाता था।

शुक– राजमहलो मे शुक पाले जाने का प्राय वर्णन मिलता है। शुक पालन जन सामान्य मे प्रचलित था। सुग्गे को मनोरजनार्थ पाला जाता था, ये मधुर आवाज मे सुन्दर वचन बोलते थे। कभी–कभी ये शुक सन्मार्ग का उपदेश देते हुए भी पाए गए है। वैसे सुग्गे की आवाज जन सामान्य के लिए कर्ण प्रिय थी। बिल्हण ने अपने ग्रथ मे उसकी कर्णप्रियता का वर्णन किया है–

वागुन्मीलति भिन्नषड्जललिता लीलाशुकानानपि,
क्रोडे दन्तकरण्डपाण्डुरतनोर्मग्ना विधोश्चन्द्रिका।
पूर्वाशामुखमण्डनत्वमचिराच्चण्डाशुरायास्यति,
द्रागुन्मुद्रय देवि पङ्कजदलच्छायाञ्चले लोचने।'[१]

खेलकूद–

विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे खेलकूद के विषय मे विस्तृत सामग्री तो नहीं मिलती लेकिन फिर भी खेल सामाजिक मनोरजन का अग अवश्य था। घोडे की पीठ पर बैठकर खेले जाने वाले गेंद के एक खेल का कभी–कभी उल्लेख अभिलेखों मे मिलता है। इसके ठीक–ठीक स्वरूप का पता नहीं है, किन्तु यह एक प्रकार का पोलो खेल था। अभिलेखों में नागदेव और मधुसूदन को कंदुक पुरन्दर' कहा गया

---

१. **विक्रम. एकादशः सर्गः ७५**

है। इसी खेल का श्रवण बेलगोला के एक अभिलेख मे विस्तृत वर्णन है। यह खेल राष्ट्र–कूट राजा इन्द्र चतुर्थ के शासन काल (६७२ ई०) का है। चोल अभिलेखो मे राजाधिराज चोल के बारे मे कहा है कि उसने पडूर के युद्ध के बाद चालुक्य सेनापतियो और सरदारो के साथ एतगिरि मे 'सेडू' का खेल खेला था।[1]

'गण्डे मण्डनमात्मनैव कुरूते वैदग्ध्यगर्वादसौ,
त्यक्त्वा हेमविभूषणानि तनुते ताडीदलेष्वाग्रहम्।
मन्दा कन्दुकखेलनाय भजते सारीषु शिक्षारस
तन्व्या चित्रमकाण्ड एव लटभाभावे निबद्धो भर।।'[2]

उच्च वर्ग की ऐसी महिलाओ के अतिरिक्त सुलेयर गणिका भी थी जो सगीत और नृत्य का अभ्यास भी करती थी। इनकी सख्या पर्याप्त थी और ये बडे नगरो के जीवन को सरस बनाती थी। मंदिरो मे पूजा के समय और विभिन्न अवसरो पर उनके संगीत के कार्यक्रम होते थे। ये इन कलाओ मे पारगत होती थी इन्हे अन्य महिलाओं की अपेक्षा समाज मे बडी छूट मिली हुई थी। समाज के अन्यथा नीरस जीवन में अपनी उपस्थिति से रस का सचार करती थी।

वेश्याओं के वर्णन का चित्र जो विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे गणिकोचित कर्म की याद दिलाता है–

'यान्तीषु यद्वारविलासिनीषु करेणुभि· पूरितदिक्तटाभि।
दिनेऽपि दिक्पालपुरीगवाक्षा प्रक्षालन चन्द्रिकया लभन्ते।।'[3]

वेश्याओं की क्रीडा के वर्णन का मनोरम वर्णन प्रस्तुत है–

---

१. दकन का प्राचीन इतिहास– जी. याजदानी
२. विक्रम. अष्टमः सर्ग· ८२
३. विक्रम. नवमः सर्गः १२७

'क्रीडन्समुत्सारितवारनारी– मञ्जीरनादागतराजहस ।
एक क्षिते पालयिता भविष्यन् स राजहसासहनत्वमूचे ।।'[1]

स्त्रियो की स्थिति के विषय मे ये कहा जा सकता है कि उन्हे समाज मे पूर्ण स्वतत्रता प्राप्त थी, और उनकी दक्षता हर क्षेत्र मे व्याप्त थी। पारिवारिक दृष्टि से वह पत्नी, माता एव भगिनी के दायित्व का निर्वाह करती थी। राजनैतिक दृष्टि से वे न केवल अपने पतियो के साथ युद्ध स्थल मे सहायता हेतु ही जाती थी अपितु अवसर पडने पर स्वय युद्ध भी करती थी। धार्मिक दृष्टि से स्त्रिया पति के धर्माचरण में पूर्ण सहयोग देती थी और कला की दृष्टि से वे गीत, नृत्य मे प्रवीण थी। इस प्रकार नारी के सर्वांगीण विकास के चित्र इस महाकाव्य मे प्राप्त होते हैं।

वाहन–

बैलगाड़ी–

११वीं शताब्दी में जहॉ पर मध्यम–उच्च वर्ग एव उच्च वर्ग के द्वारा साधन के रूप मे घोड़े और हाथी का प्रयोग होता था, वही पर निम्न वर्ग एव निम्न मध्यम वर्ग के मध्य बैलगाडी प्रमुख साधन के रूप मे प्रयोज्य था। दैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति, उनके परिवहन, वस्तुओं के व्यापार, आवागमन आदि के लिए एव समाज के उपर्युक्त क्रियाकलापों हेतु बैलगाडी मेरुरज्जुवत थी। जहॉ पर दैनन्दिन कार्य सम्पन्न करने में बैलगाड़ी की अहम् भूमिका थी वही पर बैलगाड़ी से ढुलाई कर बैलगाडी को कुछ लोग अपने जीविकोपार्जन के साधन के रूप में इसे प्रयोग करते थे।

---

१. विक्रम. तृतीय सर्गः १४

तकनीकी और तत्प्रयुक्त सामग्री सामान्य जन द्वारा सरलतया उपलब्ध एव ग्राह्य थी। अस्तु इसके उत्पादन हेतु सामान्य जन को अन्यत्र आश्रित रहना पडता था। वे स्वय बैलगाडी को तैयार कर लेते थे।

'उदञ्चयन्किंशुकपुष्पसूची सलीलमाधूतलताकशाग्र ।
वियोगिना निग्रहणाय सज्ज कामाज्ञया दक्षिणमारूतोऽभूत् ।।'[1]

अश्व–

जहाँ पर बैलगाडी सामान्य जन द्वारा प्रयोग किया जाने वाला अहम साधन था, वही पर उच्च वर्गीय समाज में आवागमन, युद्ध क्रिया आदि के लिए घोडे और हाथी का प्रयोग किया जाता था। घोडे का प्रयोग तीव्र गति से यातायात, कम समय मे आवागमन, सेना का आकस्मिक हमला आदि के लिए किया जाता था।

राजा, सामन्तो तथा उच्चवर्गीय लोगो के द्वारा सर्वाधिक प्रयोग घोडे का होता था। प्राचीन काल से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी मे आवागमन के मुख्य साधन के रूप मे घोडे का ही उपयोग होता रहा। घोडे की इसी उपयोगिता के कारण देश मे अश्व पालन के अतिरिक्त उत्तम नस्ल के घोडे बाहर से भी आयात किये जाते थे। राजा विक्रमाङ्कदेव के द्वारा बडे पैमाने पर घोडे का प्रयोग किया गया था। जैसा कि बिल्हण ने काबुल से आयातित उत्तम नस्ल के घोडों का स्वयं वर्णन किया है–

---

१ विक्रम सप्तमः सर्ग. ५२

'निशम्य तुक्खारखुरक्षताया क्षितेस्तनुत्वादिव यस्य कीर्तिम्।
सम्भूय गायन्ति फणीन्द्रकन्या सगीतशालासु भुजङ्गभर्तुः ।।'[1]

"काबुली घोडो की टापो से खुदी पृथ्वी के मानो छिल जाने के कारण पतली हो जाने से और पृथ्वी के खुद जाने से नागलोक का विशेष अन्तर न रहने से (नागलोक मे प्रविष्ट) गुर्जर देश के राजा की कीर्ति को सुनकर नागकन्याएँ नागराज की संगीत शालाओ मे, उसकी कीर्ति का एकत्र होकर गान करती हैं। अर्थात् गुर्जर देश के राजा की पल्टन मे काबुली घोडे थे जिनसे सम्पूर्ण पृथ्वी को जीतकर उसने कीर्ति प्राप्त की थी।"

अश्वपालन व उनके रख रखाव पर पर्याप्त ध्यान दिया जाता था जिसका वर्णन करते हुए बिल्हण ने लिखा है–

'कुलिशकठिनलोहबन्धयोगान्निजगृहकुट्टिमवद्विलङ्घ्यतेस्म।
विशिखशकलकण्टकावतीर्णा रणखुरली खुरमण्डलैर्यदीयै ।।'[2]

"जिन घोड़ों के खुरों से, वज्र के समान कडी नॉल बंधी होने के कारण, बाणो के टुकडे रूपी कांटो से आच्छादित युद्धभूमि, घुडसाल की फर्शबन्दी के समान लॉधी जाती थी अर्थात् घोडे, खुरो मे कडी नाल जडी होने के कारण आराम से घुडसाल की पक्की सतह पर चलने के समान बाणो के टुकडे रूपी कॉटो से आच्छादित रणभूमि पर भी आराम से चलते थे।

१. विक्रम. नवमः सर्गः ११६
२. विक्रम. षष्ठमः सर्गः ४६

हाथी–

हाथी का प्रयोग घोडे की अपेक्षा अधिक भारवाहन, भयाक्रान्त करने वाले साधन तथा अन्य मालवाहक कार्यो के लिए किया जाता था। यद्यपि हस्तिपालन, उसका रखरखाव तथा उसका खान–खर्च आदि सर्वाधिक महँगा पडता था फिर भी राजा का प्रिय वाहन होने के कारण तथा सेना का मुख्य भाग (हस्तिसेना) होने के कारण हाथी का प्रयोग बहुतायत से होता था। राजा हाथी का प्रयोग अपने आवागमन हेतु तथा युद्ध मे प्राय करता था। विक्रमाङ्कदेव के द्वारा हाथी के प्रयोग का वर्णन प्रस्तुत है–

'अस्मरद्द्विरददानवारिणा तस्य वारिनिधिराविलीकृत ।
हन्त सततमदस्य विभ्रमानभ्रभुप्रियतमस्य दन्तिन ।।'[1]

"विक्रमाङ्कदेव के हाथियों के मदजल से मटमैला समुद्र, मद को सतत् चुवाने वाले अभ्रमु नाम की हथिनी के प्रियपति ऐरावत नाम के इन्द्र के हाथी का स्मरण करने लगा। उच्चैःश्रवा नामक इन्द्र के घोडे के समान ऐरावत हाथी भी पहले समुद्र मे ही था। बाद में समुद्र मन्थन से उत्पन्न दोनो को इन्द्र ने अपना वाहन बनाया।"

विक्रमाङ्कदेव द्वारा हाथी पर सवार होकर सैन्य सचालन एवं शत्रु सेना पर हमले का वर्णन बिल्हण ने बडे मनोरम ढग से किया है–

अहमहमिकया प्रधाविताभ्या मिलितममुष्य बलं तयोर्बलाभ्याम्।
सलिलमभिमुखं सहाम्बुराशेस्तदनु महानदयोरिवोदकाभ्याम्।[2]

---

१. विक्रम. पञ्चम् सर्गः १६
२. विक्रम. षष्टमः सर्गः ६६

सामाजिक विश्वास–

बिल्हण द्वारा वर्णित समाज और सामाजिक मान्यताएँ जहाँ पर उत्तर भारत मे बौद्ध व जैनधर्म के प्रभाव स्वरूप आत्मोत्सर्ग आदि कठोर नियमो मे बदलाव व दुरूह सामाजिक बन्धनो मे शिथिलता को दर्शाती है वहीं पर दक्षिण भारत मे अभी भी सामाजिक अन्धविश्वास तथा वह मान्यताएँ दुरूह बनी हुई थी। तमाम सामाजिक विश्वास जो परम्परागत तौर पर अपनाये गये वह समाज मे प्रतिष्ठा प्राप्त थे। उनका विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे सम्यक्वर्णन मिलता है।

चिन्तामणि रत्न–

चिन्तामणि अभीष्ट वस्तु की याचना करने पर अभीष्ट वस्तु देता है। यह एक प्रकार का ख्याति प्राप्त रत्न था जिसके विषय मे ऐसा विश्वास था कि इससे जो कुछ भी माँगा जाय उसकी प्राप्ति अवश्य होती है। इस महाकाव्य में इस रत्न की तुलना राजा से की गई है। इस प्रकार यह रत्न सभी अभीष्टो की पूर्ति करने वाले रत्न के रूप में ज्ञेय है।

'चिन्तामणिर्यस्य पुरो वराकस्तथाहि वार्ता जनविश्रुतेयम्।
यत्तत्र सौवर्णतुलाधिरूढे चक्रे स पाषाणतुलाधिरोहम्।।'[१]

"जिस राजा की समता में चिन्तामणि रत्न भी किसी महत्त्व का नहीं था। इसीलिए यह बात लोक प्रसिद्ध है कि सुवर्ण पुरूष के दान में राजा सोने की तुला पर चढ़ता था किन्तु चिन्तामणि पत्थर (रत्न) तौलने की तुला पर तौला जाता था

---

१. विक्रम. प्रथमः सर्गः ६८

अर्थात् चिन्तामणि की तौल पत्थरो से होती थी और राजा की सोने से। (चिन्तामणि अभीष्टवस्तु की याचना करने पर अभीष्ट वस्तु देता है किन्तु यह राजा बिना याचना के ही अभीष्ट वस्तु देता था।"

सल्लेखन कर्म–

जैन धर्म मे प्रचलित सल्लेखन कर्म जैन धर्मानुयायी आत्मोत्सर्ग द्वारा मोक्ष की प्राप्ति हेतु करते थे तथा वे इससे समाज मे अन्न जल को त्यागकर प्राणोत्सर्ग से मोक्ष की प्राप्ति का सदेश देते थे। इस प्रकार का सामाजिक विश्वास जैनधर्मावलम्बियो में बहुत दृढ़ था। इसका उल्लेख तत्कालीन 'अभिलेखो' मे मिलता है। कभी–कभी तो लोग छोटे–मोटे कारणो से जिसे हम बचपना या अंधविश्वास कहेगे, उनके कारण आत्म बलिदान कर देते थे।

जलाभिसिञ्चन–

कहीं–कहीं पर गङ्गाजल छिडककर पवित्र करने की भी परिपाटी थी। इस परिपाटी का उल्लेख प्रस्तुत है–

'यस्यासिरत्युच्छलता रराज धाराजलेनेव रणेषु धाम्ना।
दृप्तारिमातङ्गसहस्रसङ्गामभ्युक्ष्य गृह्णन्निव वैरिलक्ष्मीम्।।'[1]

जिस राजा की तलवार, युद्धों में ऊपर उठने वाले अपनी धार के जल के

---

[1] विक्रम. १/२०४

समान तेज से मदोन्मन्त हजारों शत्रु रूपी हाथियों के अथवा हजारों शत्रु चाण्डालो के ससर्ग दोष से अपवित्र शत्रुओं की लक्ष्मी का मानो प्रोक्षण कर ग्रहण करती हुई शोभित हुई। अर्थात् अपवित्र शत्रुलक्ष्मी पर अपनी तेज धार का पानी छिडक, उसे पवित्र कर उसका ग्रहण किया।

आत्मोत्सर्ग–

आत्मोत्सर्ग से जमीन द्विगुणित करने सम्बन्धी विश्वास का उल्लेख भी प्राप्त होता है। एक बार तो जमीन पर अपना अधिकार सिद्ध करने के लिए इस असगत तरीके का इस्तेमाल भी किया गया था। दोनेकल्लु (अनन्तपुर जिला) के १०५६–६० ई. के एक अभिलेख मे लिखा है कि दो ब्राह्मणो ने तीन 'गावुडो' की कुछ भूमि पर जबर्दस्ती कब्जा कर लिया था। उस पर अपना अधिकार सिद्ध करने के लिए गावुडों ने फैसला किया कि उनमे से एक आत्मबलिदान करेगा। इसके बदले उसके उत्तराधिकारियो को अतिरिक्त भाग मिलेगा। इस प्रकार उनमे से एक ने दोनो ब्राह्मणो के सामने पेट मे छूरा भोककर आत्महत्या कर ली। इस पर उन ब्राह्मणों ने वह जमीन छोड दी। पहले की तैयार की गई शर्त के अनुसार उसके वारिसो को उनके हिस्से से ज्यादा जमीन मिल गई। आधुनिक शब्दावली में यह 'सफल 'सत्याग्रह का एक अतिवादी उदाहरण' है।

सामाजिक विश्वासों के उल्लेख के क्रम में १०३६ ई की उस घटना का जिक्र करना प्रासङ्गिक होगा जिसमे किसी ने प्रण को पूरा करने के लिए आत्मवध (वेलेवाक्य) के द्वारा कदंब राजा तैलप देव के साथ स्वर्ग जाने का व्रत लिया था।

"बोप्पन बेलेवाकियम निलिसि तैलपदेवन कूडे स्वर्गस्थान आगलू।"[1]

पुरूषो की भॉति स्त्रियो मे सामाजिक विश्वासो के प्रति गहरी निष्ठा थी। वीर सोमेश्वर चतुर्थ की रानी लच्छल देवी की 'बेलेक्कार' बोका ने व्रत लिया था कि वह रानी के साथ मरेगी, और उसने राजा के शासन काल के पॉचवे वर्ष (११८५ ई०) मे अपनी प्रतिज्ञा पूरी की।

सती प्रथा–

सती प्रथा यत्किञ्चित् रूप मे समाज मे प्रचलित थी। ११८० ई० के आसपास जब सिन्द राजमल्ल प्रथम के मत्री बेचिराज की मृत्यु हुई तो उसके साथ उसकी दो पत्नियॉ बैलियक्क और मत्यनियक्क सती हुई थी। इससे करीब सौ साल पहले देकब्बे के 'सती' होने की घटना का बेलतूर के अभिलेख मे बडा हृदयद्रावक वर्णन मिलता है। इस काल के कन्नड साहित्य के इतिहास में इस लेख का अपना स्थान है।

---

१. दक्षिण भारत का इतिहास– डॉ० हरि नारायण दुबे।

चतुर्थ अध्याय

१. आर्थिक दशा
२. अर्थोपार्जन के साधन
३. कृषि
४. पशुपालन
५. व्यापार
६. व्यापारिक फसलें
७. उद्योग
८. मुद्रा
९. क्रय–विक्रय
१०. माप–तौल
११. कर

आर्थिक दशा

भारतीय अर्थव्यवस्था वैदिक काल से लेकर आद्योपान्त कृषि, व्यापार, व उद्योग पर आधारित थी। दक्षिण भारतीय राजाओ और उनकी अर्थव्यवस्था का जहाँ भी जिक्र मिलता है चालुक्यो की अर्थव्यवस्था का वहाँ विशिष्ट उल्लेख हुआ होता है। विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे आर्थिक व्यवस्था से सम्बन्धित सामग्री अल्परूप मे मिलती है।

कृषि–

आज की भाँति उस काल मे भी कृषि ही समाज की अर्थव्यवस्था का मेरूदण्ड थी। कृषि जल पर निर्भर थी। ऐसी नदियो की सख्या कम थी जो सदानीरा हो और नहरें निकालकर सिंचाई की जा सके। बरसात पूरे साल मे रूक–रूककर कभी कम कभी अधिक होती थी। अत स्थान–स्थान पर तालाब बनाकर पानी इकट्ठा किया जाता था। इसलिए कोई आश्चर्य नही कि उस काल मे इन तालाबों के रख–रखाव पर पूरा–पूरा ध्यान दिया जाता रहा होगा। विक्रमाङ्कदेव द्वारा निर्मित विशाल तालाब का वर्णन मिलता है सम्भव है कि ये तालाब किसी न किसी रूप में कृषि मे सिचाई हेतु प्रयुक्त होता रहा होगा।

"अकारयत्कारणमानुष.पुर–
स्तडागमेतस्य स रूद्धदिङ्मुखम्।
उपैति येनानुपमश्रिया तुला–
मसौ गत श्री कथमम्भसां निधि.।।"[1]

---

१. विक्रम. सप्तदशः सर्गः २२

कारण विशेष से मानव रूप धारण करने वाले राजा विक्रमाङ्कदेव ने उस मदिर के आगे दिशाओ तक फैलने वाला अर्थात् बहुत बडा एक तालाब बनवाया था। अवर्णनीय शोभा वाले उस तालाब से लक्ष्मीरहित या शोभारहित समुद्र कैसे बराबरी कर सकता है।

इस ग्रन्थ मे कृषि के लिए सिचाई के साधन के रूप मे अनके पक्के तालाबो का वर्णन प्राप्त होता है। अभिलेखो से मदिरो के बाद इसी विषय का सबसे अधिक महत्त्व मालुम पडता है। होट्टूर के पास केम्गेरे (लाल तालाब) था। १०३७ ई० से इसके रखरखाव के लिए छह बोझ पान के पत्तो पर केन्द्रीय और स्थानीय अधिकारियो को जो कर मिलता था वह इसके लिए सुरक्षित कर दिया गया था। इसके अतिरिक्त करीब १००० 'तबुलिगो' को हिदायत कर दी गई थी कि हर बोझा पर एक 'बीस' (पण का) बिला नागा दिया करे।

बीजापुर जिले में मेटूर मे १०४१ ई० मे स्थानीय राज्यपाल के नाम पर बनने वाले रट्टसमुद्र की खुदाई के लिए करो और जुर्माने से प्राप्त होने वाली आय का एक हिस्सा बॉध दिया गया था। केलवाडी (बादामी तालुक) के एक तालाब की मरम्मत के लिए १०५३ मे २० मत्तर सिचित भूमि और एक मकान का दान मिला था।

शिभोगा जिले के सोराब तालुक के १०७१ ई० के अभिलेख में एक ऐसी योजना का उल्लेख है जिसमें खेती के लिए नई जमीन के प्रयोग की बात है। इस जमीन की सिंचाई के लिए एक तालाब सेट्टिकेरे खोदा गया था और इस तालाब के रखरखाव के लिए अक्षय दान दिया गया था। दान का उल्लेख करते हुए बिल्हण ने

निम्न श्लोक दिया है–

"प्रदानलोभादिह भर्तुरस्यचेत् कदाचिदागच्छति कुम्भसम्भव।
छिनद्मि तद्दर्पमितीव यस्तटत्रुटद्विटङ्कोर्मिरवेण गर्जति।।"[1]

'इस तालाब के मालिक राजा विक्रमाङ्कदेव से दान प्राप्त करने की अभिलाषा से यदि कदाचित् समुद्र को तीन आचमन मे पी जाने वाले अगस्त्य मुनि आ जॉय तो मैं उनके घमण्ड को चूर कर दूँगा मानो इस हेतु से तटों से टकराने वाली ऊँची–ऊँची लहरो के शब्दो से गरज रहा है।'

अम्मेले (बेल्लारी) मे ११०६ मे 'हेरिकेरे' के रखरखाव के लिए चुगी का दान दिया गया। बाल्गुली (बेल्लारी जिले मे ही) दो तालाबो के रख–रखाव के लिए दान दिए गए। इसमे एक दान ११०७ ई० मे और दूसरा ११८८ ई० मे दिया गया था। ११३२ ई० में चिलमकारूं (कुडप्पा) मे एक नया तालाब खुदवाया गया। हावेरी (धारवाण) के करणो ने ११५७ ई० में निश्चित नकद आय 'हिरियकेरे' तालाब के नाम की थी। यह तालाब राजा नल चक्रवर्ती द्वारा खुदवाया बतलाया गया है। ये कभी आधुनिक इजीनियरिंग शब्दावली मे लघु सिंचाई और मरम्मत के कामो के उदाहरण हैं। ये उदाहरण पूर्ण नही है किन्तु उस सूची से स्पष्ट हो जाता है कि उस काल मे भूमि की अर्थव्यवस्था मे सिचाई के महत्त्व का ध्यान लोगों को था।

सिंचाई के साधन–

उन्नत कृषि विकसित सिंचाई के साधनो पर निर्भर करती है। समकालीन

---

१. विक्रम. सप्तदशः सर्गः २४

परिप्रेक्ष्य मे आधुनिक सिचाई का विकास हुआ नही मिलता है। खेतो की सिचाई परम्परागत ढंग से होती थी। इसमे कुएँ द्वारा सिचाई, तालाब द्वारा सिचाई तथा नदियो द्वारा सिचाई का अनुमान किया जा सकता है। उस समय ये ही सिचाई के साधन रहे होगे। सम्राट द्वारा बडे पैमाने पर तालाबो का निर्माण इस बात को सूचित करता है कि तालाबों का उपयोग स्थान आदि भौतिक कार्यों के अतिरिक्त आर्थिक क्रियाओ या आर्थिक ससाधनो को सुदृढ करने के लिए किया जाता था। नदियो के किनारे विभिन्न नगरो का निर्माण नदी, तटो पर विभिन्न फसलो की उपज के होने के उल्लेख मे मिलते हैं। इस आधार पर ये कहा जा सकता है कि नदी जल का उपयोग सिचाई के लिए किया जाता रहा होगा। महाकवि बिल्हण ने अपने वर्णन–विवरण मे कश्मीर से दक्षिण भारत पर्यन्त यात्रा मे आने वाली नदियो तथा उनके तटो पर बसे नगरो मे होने वाली उपजो का वर्णन किया है। इन नदियो मे गगा, यमुना, नर्मदा तथा सरयू आदि नदियो का वर्णन व उनके महात्म्य को बताया है। सरयू के तट पर अगूर की खेती का वर्णन यह दर्शाता है कि नदी जल सिञ्चन कार्य मे प्रयुक्त होता था–

"ब्रूमस्तस्य प्रथमवसतेरद्भुताना कथाना,
किं श्रीकण्ठश्वशुरशिखरिक्रोड लीलाललाम्नः।
एको भाग· प्रकृतिसुभग कुङ्कम यस्य सूते,
द्राक्षामन्यः सरससरयूपुण्ड्रकच्छेदपाण्डुम्।[1]

"शंङ्कर भगवान के श्वसुर हिमालय की गोद मे विलास का भूषण अर्थात्

---

१. विक्रम. अष्टादशः सर्गः ७२

हिमालय के समीप मे विद्यमान अनेक अद्‌भुत कथाओ का प्रथम स्थान उस खोनमुष गॉव की प्रशंसा में क्या कहा जाए, जिसका एक भाग स्वभावत सुंदर केसर उत्पन्न करता है और दूसरा भाग रस भरे सरयू के तट पर होने वाले पौढो के टुकडो के समान अर्थात् गण्डेरी के समान पाण्डुवर्ग अगूरो को उत्पन्न करता है।"

सिचाई के उपर्युक्त साधनो के अतिरिक्त वर्षा के जल द्वारा भी सिंचाई की जाती थी। अधिकाश क्षेत्रो मे कृषि वर्षा के जल पर ही निर्भर रहती थी। अच्छी वर्षा अच्छी फसल होने की निर्धारक होती थी। ऐसी भूमि को प्राचीन ग्रथो मे 'देवमातृक' की संज्ञा दी गई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे सिचाई के साधन का विस्तार पूर्वक वर्णन मिलता है, परन्तु खाद्यान्नो का वर्णन नगण्य है। कौन से खाद्यान्न कब बोये जाते थे, उनकी खेती कैसे की जाती थी, उनकी पैदावार कब होती थी, इत्यादि विषयो से सबन्धित सामग्री का अभाव है।

पशुपालन–

ग्यारहवीं शताब्दी मे पशुओ को पालने व उनके उपयोग में विशेष परिवर्तन नहीं आया था। परम्परागत पशुपालन लगभग जारी रहा। दैनिक उपयोगिता के आधार पर ही पशुपालन तथा उनको महत्त्व प्राप्त था। परम्परागत ढंग से कुछ पशुओं का उपयोग दुग्ध उत्पादन तथा दुग्ध से निर्मित दधि, घृत, छाछ आदि के लिए होता था। कुछ पशुओं का कृषि–कर्म, यात्रा तथा अन्य व्यवसायिक कर्म हेतु प्रयोग किया जाता था। पशुओ का धार्मिक, आर्थिक व सामाजिक दृष्टि से बडा महत्त्व था। ग्रामीण समुदाय में तो पशुपालन घर की अर्थव्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण

अग था। विक्रमादित्य षष्ठम् के शासनकाल के सीताबल्दी (नागपुर) अभिलेख मे उल्लेख आया है कि दण्डनायक वासुदेव ने जमीन खरीदकर उसमें से १२ 'निर्वतन' 'गोप्रचार' (गायो का चारागाह) के लिए और ५ निवर्तन भूमि' 'भूमिवाहक' (गाय चराने वाले के लिए) दान की थी। इस उल्लेख मे हमे पशुपालन और डेरी उद्योग की समस्याओ का ध्यान हो जाता है जिनके बारे मे किसी भी दूसरे स्रोत से जानकारी प्राप्त नही होती। कुछ महत्त्वपूर्ण पशुओ को पालने व उनके उपयोग का वर्णन निम्नलिखित है–

अश्व–

यद्यपि उत्तम नस्ल के घोडो का काबुल (अफगानिस्तान) से आयात किया जाता था, तथापि घोडो का बडे पैमाने पर उपयोग यह दर्शाता है कि इतने बडे पैमाने पर इतनी अधिक मात्रा मे अश्वपूर्ति अश्वपालन के बिना सभव नहीं थी। स्वय बिल्हण ने भी अश्वपालन व तत्सम्बन्धित अश्वशाला तथा उनकी देखभाल का वर्णन किया है–

"कुलिशकठिनलोहबन्धयोगान्नि जगृहकुट्टिमवद्विलङ्घयतं स्म।
विशिखशकलकण्टकावतीर्णा रणखुरली खुरमण्डलैर्यदीयै।।"[1]

"जिन घोडों के खुरो से, बज्र के समान कडी नॉल बंधी होने के कारण, बाणो के टुकड़े रूपी काटो से आच्छादित युद्ध भूमि, घुडसाल की फर्शबन्दी के समान लॉघी जाती थी अर्थात् घोडे, खुरो मे कडी नाल जडी होने के कारण आराम से घुड़साल की पक्की सतह पर चलने के समान बाणो के टुकडे रूपी कॉटो से आच्छादित रणभूमि पर भी आराम से चलते थे।"

---

१. विक्रम. षष्ठः सर्गः ४६

हाथी–

राजा द्वारा बडे पैमाने पर तथा यत्र–तत्र सामान्यजनो द्वारा हाथी का प्रयोग होता था। हाथी के आयात का कोई उल्लेख नही प्राप्त होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि हस्तिपालन भी व्यापक पैमाने पर होता था। जहाँ हस्तिपालन राजनीतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था, वही हस्तिपालन का व्यावसायिक उपयोग भी था। हाथी को विवाह आदि समारोहों मे तथा राजा की शोभा–यात्राओ मे प्रयोग होता। युद्ध के समय प्राय राजा हाथी पर सवार होकर रण क्षेत्र मे जाता था। यद्यपि अन्य पशुओं की अपेक्षा हस्तिपालन खर्चीला और महँगा था। फिर भी उसकी उपयोगिता और महत्ता को देखते हुए लोग हस्तिपालन करते थे।

बिल्हण द्वारा सेना मे हाथियो के प्रयोग का वर्णन–

"एकत्र भारेण धरा नमन्ती न मस्तके तिष्ठति भोगिभर्तु।
इतीव सर्वास्वपि दिक्षु कीर्णमनेन सेनागजचक्रवालम्।।"[१]

"इस विक्रमाङ्कदेव ने अपनी सेना के बोझ से एक तरफ दबती भूमि शेषराज के मस्तक पर न ठहर सकेगी, इस कारण से मानो अपनी सेना के हाथियो के समूह को सब दिशाओ में फैला दिया।"

विक्रमाङ्कदेवचरितम् में बिल्हण ने राजा के पास असंख्य हाथियों के होने का वर्णन किया है। यदि इस वर्णन को हम अतिशयोक्तिपूर्ण मान लें तो भी एक बात इससे स्पष्ट हो जाती है कि बडे पैमाने पर हाथियों को पाला जाता था–

---

१ विक्रम. नवम सर्ग. १३६

"तत्करीन्द्रनिवहावगाहनैर्वाहिनी प्रतिपथेन सागमत्।
दन्तिदानजलनिम्नगा पुनर्लेभिरे प्रणयमापगापते ।।"[1]

"वह तुङ्गभद्रा नदी विक्रमाङ्कदेव के असख्य बडे–बडे हाथियो के एक साथ उसमे उतर कर स्नान करने से उलटी बहने लगी और हाथियो के मदजल की नदियॉ समुद्र में जा मिली।"

कपि–

बन्दर का एक पालतू जानवर के रूप मे उल्लेख मिलता है। कुछ निम्नवर्गीय लोग (मदारी) बन्दरों का खेल दिखा करके जीवन यापन करते थे। ग्यारहवी शताब्दी का समाज बन्दरों की उपस्थिति से भलीभॉति अवगत रहा होगा क्योकि जन सामान्य मे बन्दरो के प्रति भय का वर्णन स्वय बिल्हण ने किया है–

"कृष्टाशुका कापि नरेन्द्रवामा लतानिकुञ्जात्कपिना सकोपम्।
धूर्ता पलाय्य प्रियमालिलिङ्ग कोप न चाप प्रतिसुन्दरीभ्य ।।"[2]

"लता के बने कुञ्ज पर से बदर के क्रोध से वस्त्र खीचने पर राजा की कोई प्रगल्भ नारी भाग कर राजा से जा चिपकी अर्थात् राजा का आलिङ्गन कर लिया (इससे) सौतो का क्रोध भी उस पर नही हुआ। सौतो के सामने पति का आलिङ्गन यद्यपि क्रोधकारक है परन्तु यह बन्दर के डर से ऐसा कर रही है इस भावना से क्रोध उत्पन्न नही हुआ।"

---

१. विक्रम. पंचमः सर्गः ११
२. विक्रम. दशमः सर्ग ५४

शुक–

राजमहलो मे शुक पाले जाने का प्राय वर्णन मिलता है। वैसे सामान्य गृहो मे भी शुक पालने की विधा का हम अनुमान कर सकते है। सुग्गे को मनोरजन के लिए पाला जाता था। ये मधुर आवाज मे सुन्दरवचन बोलते थे। कभी–कभी ये शुक सन्मार्ग का उपदेश देते हुए भी पाये गए है। वैसे सुग्गे की आवाज जनसामान्य के लिए कर्णप्रिय थी। बिल्हण ने स्वय इसका वर्णन किया है–

"वागुन्मीलति भिन्नषड्जललिता लीलाशुकानामपि,
क्रोडे दन्तकरण्डपाण्डुरतनोर्मग्ना विधोश्चन्द्रिका।
पूर्वाशामुखमण्डनत्वमचिराच्चडाशुरायास्यति,
द्रागुन्मुद्रय देवि पङ्कजदलच्छायाञ्चले लोचने।।"[1]

"पालतू सुग्गो की भी स्वच्छ खरज स्वर मे बोली सुनाई पडने लगी अर्थात् पालतू सुग्गे भी मीठी वाणी से बोलने लगे। हाथी दॉत की बनी (गोल) डिबिया के समान श्वेत शरीरवाले चन्द्रमा की गोद मे चॉदनी प्रविष्ट हो गई अर्थात् चन्द्रमा की चॉदनी चन्द्रमा मे लीन हो गई। थोडी ही देर मे सूर्य, पूर्व दिशा के अग्रभाग को सुशोभित करेगा। हे रानी! कमल के पत्ते की शोभा को अपने प्रान्तभाग से प्रकट करने वाले अपने दोनो नेत्रो को शीघ्र खोलो अर्थात् जागो।"

कुक्कुट–

बिल्हण ने विक्रमाङ्कदेवचरितम् में मुर्गी का उल्लेख किया है। कुक्कुट पालन प्राय. व्यावसायिक दृष्टि से किया जाता था। आमिस–भोजी लोगो को इससे मॉस

---

१. विक्रम. एकादशः सर्ग. ७५

पूर्ति तथा अण्डे की पूर्ति होती थी। बिल्हण के निम्न वर्णन से मुर्गी के उपयोग व पालन का अनुमान लगाया जा सकता है–

"ये वाल्लभ्यमनङ्ग लेखलिखने याता कुरङ्गीदृशाम्
ये वह्निप्रतिमल्लभल्लपदवी पञ्चेषुणा लङ्घिता ।।
जाता कान्तिविपर्ययादनवघेर्दीपाङ्कुरास्तेऽधुना,
धूलीधूसरताम्रचूडतरूणीचूडावदापाण्डुरा ।।"[१]

"जो दीपक के किरण, अपने प्रिय को प्रेम–पत्र लिखने मे सहायक होने से अत्यन्त प्रिय हो गए थे, जिनको कामदेव ने आग के समान विषैले बाणो की करतूत से भी अधिक प्रबल बना दिया था अर्थात् विरहज्वालाभिभूत विरहिणियो को जो दीपाड्‌कुर अधिक तापदायी मालूम होते थे, वे अब धूल मे लोटी हुई मुर्गी के मस्तक पर के रोवो के समान मटमैले दिखाई देते है अर्थात् तेजहीन हो गए है।"

रासभ–

गधे का व्यावसायिक दृष्टि से निम्न मध्यम वर्ग मे महत्त्वपूर्ण स्थान था। मिट्‌टी ढोने तथा इस तरह के अन्य भारी मालवाहन हेतु तथा धोबियो के द्वारा आवागमन तथा वस्त्र ले आने, ले जाने हेतु बहुधा उपयोग होता था बिल्हण ने स्वय इसका उल्लेख किया है–

"रासभेन सहिता जकस्त्री–रूपधारि विरचय्य शरीरम्।
कापि वञ्चितवती जनबाधा क विडम्बयति नो कुसुमेषु.।।"[२]

---

१. विक्रम ११/७६
२. विक्रम. ११/२४

"गदहे को साथ ले, धोबिन का रूप धारण कर किसी अभिसारिका ने जन समूह को ठगा। कामदेव किसकी विडम्बना नही करता यानी सबकी विडम्बना करता है, अर्थात् धोबिन को आती देखकर भीड हट गई और रास्ता साफ होने से वह शीघ्र अपने पति के मिलने के स्थान पर पहुँच सकी, किन्तु कामासक्त होने से उसे धोबिन बनने की दुर्दशा भोगनी पडी।"

इस प्रकार पशुपालन कृषि की ही तरह भारतीय अर्थव्यवस्था का महत्त्वपूर्ण अग बना रहा। पशुपालन धार्मिक, व्यावसायिक, आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था।

व्यापार–

हम भलीभॉति अनुमान कर सकते हैं कि उस काल मे समुद्र पार के देशो से खूब व्यापार होता था। यह खेदजनक बात अवश्य है कि इस प्रकार के व्यापार और व्यापारिक जहाजी बेडे या उसकी रक्षा करने वाली नौसेना के बारे मे प्रत्यक्ष उल्लेख बादामी के चालुक्यो के काल की अपेक्षा अन्यत्र भी बहुत कम मिलते हैं। विदेशी व्यापार के बारे मे लगभग अकेला उल्लेख रट्टराज के खरेपट्टन के ताम्रपट्टो मे १००८ ई० मे आया है। इस लेख मे अब्बेश्वर के मदिर को जिस दान का उल्लेख आया है उसमे द्वीपान्तर से आने वाले जहाजो पर प्रति जहाज एक 'गद्याण' सोना की उगाही का भी उल्लेख है। यहॉ द्वीपान्तर का अर्थ समुद्रप्रान्त के देशो से है।

हाथी दाँत की बनी व्यापारिक वस्तुएँ–

११ वी तथा १२ वीं शताब्दी में हाथी दॉत का जनसामान्य मे प्रसाधन सामग्री

के रूप मे बहुतायत मात्रा मे प्रयोग देखने को मिलता है। यद्यपि हाथी दॉत का प्रयोग तो मानव सभ्यता के प्राचीनतम् अवशेष हडप्पा सस्कृति मे ही मिलने शुरु हो जाते है तथापि उसका प्रयोग तथा उससे बनी वस्तुऍ अब लोगो मे खूब प्रचलित हो गई थी। हाथी दात से कघी (बाल सवारने के लिए) जैसी दैनिक उपयोग की कई अन्य वस्तुऍ भी प्रयोग मे लायी जाने लगी। विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे हाथी दॉत की बनी गोल डिबिया का वर्णन मिलता है जो हाथी दॉत के अधिकाधिक प्रयोग तथा उससे होने वाले व्यापार का सङ्केत देता है।[1]

स्वर्ण व्यापार–

विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे स्वर्ण व्यापार तथा उसके प्रयोग का चित्रण प्राप्त होता है। सोने से बने आभूषणो के बहुतायत से प्रयोग को देखते हुए इसके व्यापार का अनुमान कर सकते हैं इस स्वर्ण व्यापार के निमित्त लोग देशान्तर मे आया जाया करते थे।

"नाभिसङ्गेन गौराङ्ग्या शोभते रोममञ्जरी।
कन्दर्पहेमकटकाल्लाक्षाधारेव निर्गता।।"[2]

"गौरवर्ण वाली चन्द्रलेखा के नाभी मे से निकलने वाली रोमरूपी लता मानो कामदेव के सोने के कडे में से बहने वाली लाख की धारा के ऐसी शोभित होती थी अर्थात् पीले सोने के कड़े में की लाख जैसे बाहर निकल जाती है वैसी ही उसके सोने के रंग की गोल नाभि में से रोमावली निकली शोभित होती थी।"

---

१. विक्रम. एकादशः सर्गः ७५

२. विक्रम. अष्टमः सर्गः २६

मिट्टी का तेल–

मिट्टी का तेल घरेलू उपयोगी वस्तुओ मे आता था। ज्यादातर इसका प्रयोग दीपक जलाने में किया जाता था। बिल्हण ने अपने वर्णन प्रसग मे स्वयं मिट्टी के तेल का उल्लेख किया है यह एक प्रमुख व्यावसायिक वस्तु थी।

"अचिन्तनीय तुहिनन्द्रवाणा श्रीखण्डवापीपयसामसाध्यम्।
असूत्रयत्पत्रिषु पारसीक–तैलाग्निमेतस्य कृते मनोभू ।।"[1]

"कामदेव ने अपने बाणो मे, बरफ के पानी से भी दूर न हो सकने वाले, चन्दन से भरे तालाब के जल से भी शान्त न होने वाले, मिट्टी के तेल की आग का प्रयोग इसके लिए किया अर्थात् कामदेव के बाणो से मिट्टी के तेल की अग्नि के समान कामाग्नि भभक उठी।"

वस्तु विक्रय प्रणाली–

आधुनिक अनुसधानो के अनुसार सम्भवत यहाँ देशान्तर का तात्पर्य मलाया से है।[2] इस लेख में यह भी कहा है कि मदिर को कन्दमूलीय देश से आने वाले माल पर एक 'धरण' प्रति गाडी मिलेगा। चेमुल्य और चन्दपुर को इस उगाही से छूट मिली थी। व्यापार प्रायः मार्ग द्वारा होता था। अभिलेखों में महापथों एवं सहायक दोनो के उल्लेख प्रायः मिलते हैं। मार्ग का उल्लेख स्वयं बिल्हण ने अपने ग्रन्थ मे किया है–

"निजदानजलोत्थकर्दम– स्खलनत्रस्ततयेव ये पथि।
पदविन्यसनं दधु क्रमान्मदनिद्रार्धनिमीलितेक्षणाः।।"[3]

---

१. विक्रम. नवमः सर्गः २०

२. दक्कन का प्राचीन इतिहास तथा के०ए० नीलकण्ठ शास्त्री।

३. विक्रम. पञ्चदशः सर्गः २५

"मदजनित निद्रा से आधे बन्द नेत्रो वाले वे हाथी मार्ग मे अपने मदजल से हुए कीचड मे फिसलने के भय से मानो धीरे–धीरे आगे पॉव रखते थे।"

देश का आन्तरिक व्यापार इन्ही सडको से होता था। गाडियो और जानवरो पर लाद कर माल एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाया जाता था और उसका क्रय–विक्रय किया जाता था। डाकुओ के खतरे से बचने के लिए व्यापारी सार्थ (कारवां) बनाकर निकलते थे। विभिन्न स्थानो मे मन्दिरो मे जो मेले लगते थे उनकी तिथियो को ध्यान में रखकर ही ये व्यापारी चलते थे। उत्पादको की भॉति व्यापारियो ने भी अपने नियम बनाये थे। ये स्वशासी सस्थाये थी। इनकी अपनी परम्पराऍ होती थी। अपने चिन्ह होते थे, और अपनी प्रशस्तियॉ थी।[1]

व्यापारिक फसलें–

अनाज और दालों की खेती के अतिरिक्त, जो कि सिञ्चित और असिञ्चित दोनों प्रकार की जमीनो मे होती थी, बहुत बडे पैमाने पर गहन कृषि के रूप मे बगीचे लगाये जाते थे और कपास जैसी व्यापारिक फसलें भी उगायी जाती थी। अभिलेखों मे काली भूमि, सिञ्चित भूमि, उपवन भूमि और ऊसर भूमि के खासतौर पर उल्लेख मिलते हैं। बगीचों के उपज के रूप मे पान के पत्तो, सुपाडी, ताजेफलो, और फूलों के उल्लेख के सम्बन्ध मे इस ग्रन्थ में प्राप्त सामग्री उपलब्ध नहीं है।

कर्पूर–

विक्रमाङ्कदेवचरितम् में कर्पूर का वर्णन यत्र–तत्र प्राप्त होता है। इसका

---

१. दक्कन का प्राचीन इतिहास– जी याजदानी।

व्यापार उस समय होता था अथवा नही इसके प्रमाण नही मिलते हैं। कर्पूर (पिपरमेन्ट) का बिल्हण ने जो विवरण दिया है उससे हम कर्पूर के उत्पादन तथा व्यापार दोनो के विषय मे अनुमान कर सकते हैं।

'गोष्ठीमिषेण स्वयमेवमेव प्रकाशयन्वाचि पटुत्वमन्य।
आकृष्य ताम्बूलकरङ्कमध्यात् कर्पूरदान विदधे बहुभ्य।।"[1]

"किसी दूसरे राजा ने सहृदयो की सभा के मिष से स्वयं यो ही अपनी वाक्पटुता प्रकट करते हुए पान की डिब्बी मे से कर्पूर (पिपरमेण्ट) निकालकर बहुत से राजाओ को दिया। अर्थात् – मैं गोष्ठी चतुर हूँ, यह सकेत किया। कर्पूर जनसामान्य द्वारा गृहकार्य तथा पूजा के प्रयोग मे लाया जाता था।

द्राक्षा–

इस महाकाव्य में द्राक्षा का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। उच्च वर्ग के लोगों का यह प्रिय खाद्य फल था। उत्तर भारत, मध्य भारत मे कई स्थानो पर इसकी उपज का उल्लेख मिलता है। उच्च वर्गीय लोगो मे द्राक्षा का रस (द्राक्षासव) प्रिय एवं बहुतायत से प्रयोग मे लाया जाता था।

"मन्ये मन्थाचलविदलितान्निर्गता दुग्धसिन्धो–
र्भूत्वा यस्मिन्नमृतलहरी सत्कवीनां वचांसि।
प्रेमाकूत कुवलयदृशा शीकरै पूरयन्ती
द्राक्षा खण्डेष्वमृतकिरणापाण्डुषु स्थैर्यमाप।।"[2]

---

१. विक्रम. नवमः सर्गः ८२

२. विक्रम. अष्टादशः सर्गः ७

"जिस प्रवरपुर में मन्दरपर्वत से मथे गए दुग्धसमुद्र से निकली अमृत की लहरें सत्कवियो की उक्तियो को भरकर, कमलनयनी कामिनियो की प्रेम भावनाओ को अमृतकणों से पूरित कर, चन्द्र के समान श्वेत अगूरो के समूहो मे स्थिरता को प्राप्त हुई।

कुङ्कुम–

केसर का प्रयोग सम्पन्न वर्ग द्वारा बहुतायत्त से प्रयोग मे लाया जाता था। केसर को प्राय प्रसाधन सामग्री के रूप मे प्रयोग किया जाता था। स्त्रियों का यह प्रिय प्रसाधन था। बिल्हण ने प्रवरपुर का वर्णन करते समय केसर का उल्लेख किया है–

"स्नानक्रीडाव्यसनसमये कुङ्कुम कामिनीना,
यत्रोत्तार्य स्तनपरिसरादगृह्णती कान्तमङ्के।
इर्ष्यामर्षादिव निरवधेर्वीचिहस्तैर्वितस्ता,
कर्षत्यासा प्रतिकलमलिश्यामलान्केशपाशान्।।"[1]

"जिस प्रवरपुर के वितस्ता (झेलम) नदी, कामिनियो के स्थान क्रीड़ा विहार के समय मे स्तन पर पोते हुए केसर को धोकर पति को, पक्ष में केसर को, अपनी गोद मे लेकर मानो अवधिरहित ईर्ष्याजनित क्रोध से लहर रूपी हाथो से इन कामिनियो के भौरों के ऐसे काले केशपाशों को प्रतिक्षण खीचती है।

---

१. विक्रम. अष्टादशः सर्गः १०

उद्योग–

उद्योगो की जानकारी हेतु हमे केवल अभिलेखो पर आश्रित रहना होगा उद्योगो के सम्बन्ध मे ११३५ ई० का करहाट के शिलाहारो का एक अभिलेख कोल्हापुर से प्राप्त हुआ है तथा इसी से सम्बन्धित एक और अभिलेख ११४२ ई० का है।

इनसे पहले के अभिलेख मे उस आमदनी की सूची है जो व्यापारियो ने एक जैन मदिर के नाम कर दी थी। उसके जो ब्यौरे दिए गए हैं उनमे हमें पता चलता है कि सुपारी और पान के पत्तों की माप एक बोझ, आधा बोझ, और 'हसर' के रूप मे होती थी। घी और तेल की माप 'कोड' 'सिद्दिगे' और (उसके दुगने) 'सगडि' से होती थी। रूई की तोल मालवे मे होती थी। लङ्का (बढई) पीढे तिपाइयॉ, और 'मच' (खार) आदि बनाते थे। हरी अदरक, हल्दी, सोठ, लहसुन, 'बाजे' और 'भद्रमुस्ते' की बिक्री तोल कर होती थी। बोझ और 'हसर' शब्दो का प्रयोग इनके लिए और जीरे और कालीमिर्च के लिए भी होता था। नमक और १८ तरह के अनाज की तोल एक गाडी, दो गाडी, एक बोझ, दो बोझ– इस तरह होती थी। इसी तरह मेवे और फल की तोल होती थी। सुपारी की तोल कन्धे से लटकने वाले थैले, गर्दभ भार और वृषभ भार के रूप मे होती थी। सोने के सिक्के की परख के लिए सुनार परखाई लेता था। और चर्मकार 'पादरक्षे' (सेंडल) बनाते थे। उपर्युक्त व्यापारिक वस्तुओ एव उनके व्यापार से सम्बन्धित कुछ सूचनायें विक्रमाङ्कदेवचरितम् से भी प्राप्त होती है विक्रमाङ्कदेवचरितम् में सुपारी के वृक्ष व उसके उत्पादन क्षेत्र का वर्णन बिल्हण ने किया है। सुपारी का ताम्बूल प्रेमियों द्वारा बडे पैमाने पर क्रय–विक्रय किया जाता

था। जहॉ एक ओर सुपारी का उत्पादन करने वालो को सुपारी के विक्रय से प्रभूत मात्रा मे धन प्राप्त होता था, वही पर दूसरी ओर ताम्बूल प्रेमी अर्थ व्यय की परवाह किए बगैर सुपारी खरीदते और खाते थे–

"तामप्येष क्षितिपतिशतालोकनौत्सुक्ययोगा–
दाचक्राम क्रमुकविटपिश्यामलामब्धिवेलाम्।
यत्र स्वेच्छाप्रसरमधुनाप्यम्बुराशेर्भिनत्ति,
क्षिप्ता तीक्ष्णप्रहरणमिषाद्भार्गवेणार्गलेव।।"[1]

"यह बिल्हण कवि, सैकडो राजाओ को देखने की उत्सुकता के कारण उस सुपारी के पेडो से श्यामवर्ण समुद्र के तट को अर्थात् परशुराम क्षेत्र नामक दक्षिण कोकण के समुद्र तट को लॉघ गया। जहॉ परशुराम ने तीखे–तीखे शस्त्रास्त्रो के प्रहरण के मिष से लगाई हुई सिकडी अभी भी समुद्र के इच्छानुसार प्रसार को रोकती है। परशुराम ने २१ बार क्षत्रियो का नाश कर सब पृथ्वी का दान ब्राह्मणो को कर दिया और अपने रहने के लिए अपने बाणो से समुद्र को हटाकर नवीन भूमि तैयार कर उसमे निवास किया था, ऐसी पौराणिक कथा है।

बास का उपयोग ग्रामीणाचल मे गृह निर्माण, छप्पर निर्माण तथा अन्य घरेलू उपयोग के लिए किया जाता था। प्राचीन काल से ही बास से कागज निर्माण किया जाता रहा है। बिल्हण ने अपने ग्रन्थ मे बॉस और कागज दोनो का उल्लेख किया है। इससे हम यह अनुमान कर सकते है कि कागज उत्पादन में बांस का प्रयोग अवश्य होता रहा होगा। बिल्हण ने अपने ग्रथ मे बास की उपमाये दी है, जो बास

---

१. विक्रम. अष्टादश. सर्गः ६८

की उपलब्धता का ही परिचायक होना चाहिए–

"भ्रूलेखायुगल भाति तस्याश्चटुलचक्षुष।
पत्रद्वयीव हरिता नासावशस्य निर्गता।।"[1]
"नासावशविनिर्मुक्त – मुक्ताफलसनाभिना।
भाति भालतलस्थेन बाला चन्दनबिन्दुना।।"[2]

"चञ्चल नेत्रवाली चन्द्रलेखा की दोनो भौवे मानो नाक रूपी बास के वृक्ष से निकली हुई काले रंग की दो पत्तियॉ थी।"

"मुग्धा चन्द्रलेखा नाक रूपी बास के वृक्ष से उत्पन्न मोती के समान ललाटतल मे विद्यमान सफेद चन्दन के बिन्दु से शोभित होती थी।"

इस प्रकार कुल मिलाकर दैनिक अर्थव्यवस्था सरल थी। व्यापारियो के श्रेणियो की जो औपचारिक प्रशस्तियॉ मिलती हैं। उनमे विलास की बहुमूल्य वस्तुओं के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। इसलिए यह अनुमान किया जा सकता है कि आम इस्तेमाल की वस्तुओ के साथ सम्पन्न लोगो के लिए इस प्रकार के उद्योग भी फल–फूल रहे थे।

मुद्रा–

चालुक्यो की मुद्राप्रणाली के विषय मे विस्तृत जानकारी का अभाव है। ग्यारहवी–बारहवीं सदी के राजाओं जयसिह, जगदेकमल्ल और त्रैलोक्यमल्ल के सिक्को के बारे में उल्लेख दक्षिण के चालुक्यो के इतिहास से मिलता है। 'पोन' या

---

१ विक्रम. ८/७६
२. विक्रम. ८/८०

'गद्याण' सोने का सिक्का था। 'पण' का छोटा सिक्का उसके दशवे भाग के बराबर था, यह चॉदी का सिक्का रहा होगा। उससे भी छोटे सिक्के पग या हग (एक पण चौथाई), विस (एक पग का पॉचवा भाग) और कणि (एक विश का चौथाई) थे।

चषक आकृति के सिक्के सोने और चॉदी दोनो धातुओ के थे। इन पर प्राचीन कन्नड लिपि में लेख हैं।

'आनेय पोन' का अभिलेखो मे उल्लेख हुआ है।

तमिल अभिलेखों मे– 'आनै', 'अच्चु' का उल्लेख है ये सभी दक्षिण भारतीय सिक्के है।

१०६८ ई० के एक अभिलेख मे मुद्रा परिवर्तन का उल्लेख आया है इसमे लौकिक 'गद्याणो' का 'मयूर' गद्याणो मे परिवर्तन का उल्लेख है।

उपर्युक्त साक्ष्यो से यह समाप्त हो जाता है कि स्थान–स्थान के हिसाब के सिक्को की तौल और कारीगरी अलग–अलग किस्म की होती थी। सिक्को के विनिमय का कार्य काफी लाभप्रद था। यत्र–तत्र प्रान्तीय नगरो की टकसालो का उल्लेख आया है। उदाहरण स्वरूप ११३३ ई० के एक अभिलेख मे मल्लिदेव के तम्बलवीडु की "उच्चिन टकशाला" का उल्लेख है।

माप–तौल प्रणाली–

११वीं शताब्दी में दक्षिण भारत मे प्रयोग में आने वाले परिमाप का कुछ अभिलेखीय और कुछ बिल्हण की रचनाओ मे उल्लेख मिलता है। भूमि की माप 'मत्तर' और 'कम्मों' में होती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि ६०० 'कम्म' एक 'मत्तर' के

बराबर होता था।

एक अभिलेख मे ७६ लट्ठो ('कोल') के एक 'मत्तर' का उल्लेख आया है। इस इकाई की परिभाषा स्थान–स्थान पर अलग–अलग होती थी। किन्तु 'कोल' की माप भी निश्चित न थी और कई तरह के लट्ठो का अभिलेखो मे उल्लेख है। जैसे– 'पिरिय कोल', 'कुडित कुन्तेय' 'कोल भेरूड गले' आदि। इसमे भेरूड गले से गड 'भेरूड' की प्राचीनता प्रकट होती है। इन बेतरतीब इकाईयो के मानक को स्थिर करने की कोशिश कम ही की गई थी। 'राजमान' के उल्लेख से शायद मानकीकरण का प्रयास किया गया था। यदि ऐसा प्रयत्न हुआ भी हो तो इस प्रयोग मे सफलता नही मिली थी।

इस प्रकार किसी भी सौदे को तय करने मे लोगो को काफी माथा–पच्ची करनी पडती रही होगी और इस काम मे स्थानीय लोगों की सहायता लेने की आवश्यकता पडती रही होगी। 'खडुग' बोआई की क्षमता का द्योतक था जो आधुनिक मैसूर में कम से कम ३३३ १/३ मद्र के बराबर था।

विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे वर्णित माप–तौल के उपकरणो मे तराजू का वर्णन द्रष्टव्य है–

"केलिधाम्नि न तयोः परिमातु शक्यते स्म मुखविभ्रमलक्ष्मी ।
प्रीतिराविरभवत्तु समाना कामकार्मुकतुलातुलितेव।।"[1]

---

१ विक्रम एकादशः सर्गः ७०

कर–

राजा की सरकार के हाथ मे ही वित्तीय अधिकारो की इजारेदारी न थी अपितु हर स्थानीय सभा या श्रेणी को अपने उद्देश्यो और कर्त्तव्यो की पूर्ति के लिए अपने–अपने क्षेत्र मे इस प्रकार के अधिकार प्राप्त थे। कतिपय उल्लेखो से इन उगाहियो के स्वरूप और इनकी दरो का कुछ–कुछ ज्ञान अवश्य प्राप्त होता है किन्तु किसी भी लेख मे प्रत्यक्ष रूप मे कराधान की व्यवस्था का उल्लेख नही मिलता। हम इसका अनुमान दानपत्रो के अध्ययन और उनमे दी गई छूटो आदि के विवरणो से लगा सकते है। इसीलिए हमारा यह ज्ञान अप्रत्यक्ष ही हुआ। इसलिए अब यह बतलाने का प्रश्न ही नही उठता कि किस मद पर कितना कर लगता था। अत उसका दूसरे देशो या कालो से तुलना करने का भी प्रश्न नही है। जहॉ तक हम देखते है उस काल मे समाज के किस वर्ग पर कितना बोझ डाला जाए इसका फैसला मोटे तौर पर ही किया जाता था। हॉ, इसमे इस बात का ध्यान अवश्य रखा जाता था कि सबके साथ न्याय एव समानता का व्यवहार हो। खास तौर पर ध्यान देने की बात यह है कि अनेक छोटी–मोटी उगाहियॉ खास–खास वर्गों पर ही लगाई जाती थी, सर्वधारण पर नही।

जनता पर कारारोपण तथा उससे पीडित जनता का वर्णन बिल्हण ने विक्रमाङ्कदेवचरितम् में किया है। सोमेश्वर जो कि विक्रमाङ्कदेव का बडा भाई था। उसके द्वारा कर उगाही का वर्णन मिलता है–

"ज्ञातास्वाद स्वयं लक्ष्म्या पिशाच्या इव चुम्बनात्।
रूधिर कण्ठरन्ध्रेभ्य सर्वेषामाचकाड्क्ष स।।"[१]

"पिशाची के सदृश राजलक्ष्मी का मुख चुम्बन करने से पिशाची के मुख मे लगे हुए रक्त के स्वाद का स्वय अनुभव कर वह राजा प्रजा का गला घोट कर उनका खून पीने की इच्छा करने लगा अर्थात् कर आदि लगा कर प्रजा को अत्यधिक कष्ट देने लगा।"

कर में छूट–

दान मे सभी तरह की वस्तुएँ होती थी। इन सब पर उगाहियॉ देय होती थी इसलिए उन पर छूट मिल सकती थी। दान मे बगीचे की भूमि (तोट) सुपारी के बगीचे (अडकेय तोटे) सिचित भूमि (केय) सूखी भूमि (गल्डे) तेल मिले (गाण) मकान, मकानो के लिए जमीन (मने और मने निवेशन) स्वर्ण, गद्याण' (पोन गद्याण) के रूप मे नकद धन के उल्लेख बार–बार आये हैं। कभी–कभी तो खास–२ करो और उगाहियो का ही दान खास कामो के लिए किया जाता था। इसके अलावा कभी–कभी स्वेच्छा से भी उगाहियॉ होती थी। खास व्यापारी वर्ग अक्सर इस प्रकार की व्यवस्था करता था।

---

१ विक्रम. चतुर्थः सर्ग १०५

पंचम् अध्याय

१. राजनीतिक दशा
२. राजा
३. मन्त्री
४. कोश
५. दुर्ग
६. गुप्तचर
७. युद्ध, युद्ध प्रणाली, अस्त्र–शस्त्र, युद्ध की शैली, युद्धकनीति,
८. सेना, दूत।

राजनीतिक दशा

राजनीति –

आदर्शवादी दृष्टिकोण से सम्पूर्ण मानव–ज्ञान को इकाई की सज्ञा दी जा सकती है। मानवीय ज्ञान की विभिन्न शाखाये मस्तिष्क मे ठीक उसी भॉति प्रस्फुटित हो नाना दिशाओ मे फैल जाती हैं जिस प्रकार किसी चक्र की शलाकाएँ धुरी से चतुर्दिक निकलकर एक वृत्त की रचना करती है। ज्ञान सबधी यूनानियो की विचाररेखा इसी तरह की थी। यथा– प्लेटो साधारण सा प्रश्न उठाता है– "कल्याणप्रद या न्यायोचित क्या है?" इस प्रश्न का सीमा क्षेत्र प्लेटो ने अपने उत्तर द्वारा इतना विराट एव व्यापक बना दिया है कि वह नैतिकता के विषय–प्रदेश मे ही सीमित नही हो जाता, प्रत्युत् अन्य शास्त्रो के सीमा क्षेत्रो के अचलो मे प्रवेश करता है।

वस्तुत उक्त जिज्ञासा 'अच्छा राज्य या समाज क्या होता है?" इन शब्दो मे अभिव्यक्त होनी चाहिए थी, क्योकि प्लेटो ने प्रथम का उत्तर देते हुए सम्पूर्ण समाज की रचना, उसकी आत्मा एव वाह्य रूपरेखा पर विचार किया है। किन्तु "अच्छा राज्य क्या है?" यह प्रश्न विशुद्ध राजनीतिक उत्सुकता है और अच्छे राज्य का निर्माण दार्शनिक राजा ही कर सकता है।

अध्ययन एवं अन्वेषण की मूल इकाई व्यक्ति है, न कि राज्य अथवा सरकार। व्यक्ति वास्तव मे समस्त सामाजिक शास्त्रो का केन्द्र–बिन्दु है। परन्तु व्यक्ति के राजनीतिक पहलू का मुख्य लक्ष्य शक्ति की प्राप्ति है। अत व्यवहारवादी

राजनीतिशास्त्र का केन्द्र बिन्दु 'शक्ति' मानते है। उदाहरणार्थ 'हेरल्ड लास्बेल' के अनुसार राजनीति शास्त्र "शक्ति मे सहभाग प्राप्त करने तथा उसके (शक्ति के) निरूपण करने का अध्ययन है।" ब्लटश्ली ने अपने प्रसिद्ध ग्रथ 'राज्य का सिद्धात' मे स्पष्ट शब्दो मे राजनीति के बारे मे कहा है– राजनीति मुख्यत कला है न कि विज्ञान है, इसका सम्बन्ध राज्य के व्यावहारिक आचरण अथवा निर्देशन से है।

राजनीतिक स्थिति–

महत्वाकाङ्क्षी विक्रमादित्य षष्ठ ने १०७६ ई० के प्राथमिक चरण मे अपने भाई सोमेश्वर द्वितीय को एक युद्धस्थल पर बन्दी बनाकर मृत्युपर्यन्त उसे कारागार मे रखा (द्रविडपतिगात्क्वचित्पलायय न्यविशत् बन्धनधाम्नि सोमदेव)[1] तथा स्वय कल्याणी राज्य का अधिपति बन गया। १०७६ ई० अपने राज्यारोहण की स्मृति मे उसने एक नवीन सवत् चालुक्य विक्रम सवत् का प्रचलन किया।

चोल राजवश के ऐतिहासिक वशानुक्रम का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि विक्रमादित्य के सिहासनासीन होने के समय चोल–राजगद्दी पर उसका साला अधिराजेन्द्र आसीन था। परन्तु थोडे ही समय बाद चोलो ने अपने शासक के विरूद्ध विद्रोह करके उससे न केवल राजगद्दी छीन ली अपितु उसकी हत्या भी कर दी। इस विद्रोह का नेतृत्व राजेन्द्र द्वितीय (कुलोत्तुँग प्रथम) ने किया। फलत १०७० ई० मे वह चोलराजसिहासन पर आसीन हो गया। ध्यातव्य है कि अधिराज एव कुलोत्तुग मे चोल–सिहासन के अधिकार को लेकर निरन्तर तनाव एव सघर्ष बना हुआ था, जिसमे सोमेश्वर द्वितीय कुलोत्तुँग प्रथम के तथा विक्रमादित्य षष्ठ अधिराज के

---

१ दक्षिण भारत का इतिहास– डॉ० एच० एन दुबे।

पक्षधर थे। कुलोत्तुंग के चोल–शासक बनने पर सोमेश्वर द्वितीय ने अपने विद्रोही भाई विक्रमादित्य षष्ठ के विनाश के लिए उससे सैनिक सहायता की याचना की। कुलोत्तुंग ने विक्रमादित्य षष्ठ के राज्य पर आक्रमण करके उसे पराजित कर दिया। परन्तु सोमेश्वर द्वितीय इन्ही युद्धो की कालावधि मे विक्रमादित्य षष्ठ द्वारा बन्दी बना लिया गया, फलत· उसका राज्य विक्रमादित्य के अधीन हो गया। सोमेश्वराद्‌बाहुबलेन राज्य ग्रहीतवानार्जित कीर्ति लक्ष्मी)[१] कुलोत्तुंग के शासन काल के अतिम चरण मे १११८ ई० मे एक बार पुन चोल– चालुक्य सघर्ष का भीषण सिलसिला चल पडा। विक्रमादित्य षष्ठ ने अपने पिता सोमेश्वर प्रथम द्वारा वेगी राज्य पर डाले गये राजनीतिक दबाव को पुन स्थापित करने के लिए १११५ ई० मे ही वहॉ की राजनीति मे हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया था। सयोगवश १११८ ई० मे युवराज के पद पर अभिषिक्त होने के लिए चोल सम्राट एव पिता कुलोत्तुंग द्वारा बुला लिए जाने पर विक्रमचोल ने जिस समय वेंगीराज्य को छोडकर राजधानी गगैकोडचोलपुरम् के लिए प्रस्थान किया, उसी समय विक्रमादित्य षष्ठ ने मौके का लाभ उठाकर चोल सेना को परास्त करके अपने सेनापति अनन्तपाल को वेगी का शासक बना दिया। आगे बढकर उसने स्वय गगवाडी पर आक्रमण किया एव कोलार क्षेत्र को जीतकर उसे अपने राज्य मे मिला लिया।

गगवाडी राज्य में उस समय होयसल नरेश विट्टिग अथवा विष्णुवर्धन् शासन कर रहा था। विष्णुवर्धन ने अतीव महत्वाकाक्षी होने के कारण धीरे–धीरे पाण्ड्यों एव कदम्बो की सहायता प्राप्त कर अपने राज्य को चालुक्यो की अधीनता से मुक्त करा लिया था। विक्रमादित्य षष्ठ ने होयसलनरेश विष्णुवर्धन् को परास्त कर गगवाडी

---

१ दक्षिण भारत का इतिहास– डॉ० एच० एन० दुबे

राज्य को अपने अधीन कर लिया। उसने उस युद्धाभियान मे आगे बढकर पाण्ड्यो एव कदम्बो को भी पराजित किया। तत्कालीन राजनीतिक समीकरणो को देखते हुए उसने अन्तत विष्णुवर्धन को क्षमा–दान करके उसे अपने अधीनस्थ शासक के रूप मे शासन करने की अनुमति प्रदान कर दी।

विक्रमादित्य षष्ठ की इन सामरिक उपलब्धियो के अतिरिक्त तत्कालीन लका नरेश विजयबाहु के साथ उसके कूटनीतिक सम्बन्ध भी विशेष उल्लेखनीय थे। १०८३ ई० मे लङ्का मे अपना एक दूत मण्डल भेजकर उसने दोनो राज्यो के मध्य परस्पर मैत्री–सम्बन्ध को सुदृढ कर लिया।[1]

कल्याणी के चालुक्य अपनी वश परम्परा बादामी के चालुक्यो से जोडने का सदा ध्यान रखते थे। वे अपने ताम्रपत्रो मे अपना इतिहास पुलकेशिन प्रथम से प्रारम्भ करते हैं। इस प्रकार का सबसे पुराना अभिलेख विक्रमादित्य पचम का कौथम ताम्रपट– अभिलेख है। इस वश की कुलागत वस्तुओं मे कात्यायिनी देवी प्रदत्त मयूरध्वज भी बतलाया गया है। कौथम के ताम्रपट्टो में यह भी कहा गया है कि इस वश के राजाओ ने समस्त भुवनाश्रय, सर्वलोकाश्रय, विष्णुवर्धन और विजयादित्य के विशेष नाम धारण किए।

महाकवि बिल्हण द्वारा रचित विक्रमाङ्कदेवचरितम् महाकाव्य मे चालुक्य वश में उत्पन्न राजाओ की कीर्ति और यश के बारे में प्रस्तुत श्लोक में वर्णन किया गया है–

---

१. दक्षिण भारत का इतिहास– डॉ० हरिनारायण दुबे, कल्याणी का राजवंश

यथा–

"उत्खात विश्वोत्कटकण्टकाना यत्रोदिताना पृथिवीपतीनाम्।
क्रीडागृहपाङ्गणलीलयैव बभ्राम कीर्तिर्भुनत्रयेऽपि।।"[1]

इनकी मुहरो पर वराह का चिन्ह है। इसके महत्त्व के बारे मे अनेक अभिलेखो मे मगलाचरण के रूप मे एक छद आया है जिसमे विष्णु द्वारा वराह का रूप धारण कर समस्त पृथ्वी के उद्धार का कथन है। इस छद के द्वारा चालुक्य यह घोषित करते प्रतीत होते हैं कि विष्णु की भॉति वे भी समस्त पृथ्वी की रक्षा के लिए हैं। कौथम के ताम्रपट्टो में 'इरिव–बेदग' सत्याश्रय के धनुष के वर्णन मे श्लेष के माध्यम से यही भाव व्यक्त है।

'सर्ववर्णधरम् धनु' अर्थात वह धनुष जो सभी वर्णों मे (चारो वर्णो) की सामान रूप से सहायता करता है और धनुष जो इन्द्रधनुष की भॉति सभी रग धारण करता है।

विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे विष्णु का वराह रूप धारण करने के संदर्भ मे श्लोक प्रस्तुत है–

"विपर्यय पूर्वकथाद्भुतस्य चालुक्यभूपालशरश्चकार।
पपात यन्नष्टधृतिर्वराहस्त विह्वलाङ्गं वसुधा बभार।।"[2]

"चालुक्यवशीय राजा विक्रमाङ्कदेव के बाण ने पूर्वकाल मे प्रसिद्ध वराह द्वारा उठाई गई पृथ्वी की कथा के विषय को पलट दिया क्योंकि कि धैर्य से रहित जो

१ विक्रम प्रथम· सर्ग· ६०
२. विक्रम. षोडशः सर्गः ३७

सुअर पृथ्वी पर गिर पडता था उस विकल शरीर सुअर को पृथ्वी धारण करती थी। अर्थात् पूर्वकाल मे आदिवराह ने पृथ्वी को धारण किया था अब पृथ्वी ही वराह को धारण करती है, यह विक्रमाङ्कदेव के बाण ने नई स्थिति उत्पन्न कर दी।"

यहाँ तक कि विक्रमादित्य षष्ठम् ने भी, जिसने अपने बडे भाई से युद्ध किया था सिहासन पर सबसे बडे भाई के उत्तराधिकार को चुनौती नही दी थी।

विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे बिल्हण ने दर्शाया है कि चालुक्य वश मे एकतत्र आनुवाशिक प्रणाली थी। युवराज ही आमतौर पर राजा का पद ग्रहण करता था जैसा कि विक्रमाङ्कदेव के प्रस्तुत श्लोक से स्पष्ट होता है—

"अशक्तिरस्यास्ति न दिग्जयेषु यस्यानुजोऽह शिरसा धृताज्ञ ।
स्थानस्थ एवाद्भुतकार्यकारी बिभर्तु रक्षामणिना समत्वम्।।"[1]

"आज्ञा का शिरसा पालन करने वाला जिसका मैं छोटा भाई हूँ उसके दिग्विजय मे असामर्थ्य सम्भावित नही हो सकता है। वह अपने स्थान पर ही रहकर आश्चर्यजनक काम करता हुआ रक्षामणि की समानता को प्राप्त हो अर्थात् रक्षामणि जहाँ बँधा रहता है वही रहकर सम्पूर्ण विघ्नो को अपने प्रभाव से दूरकर सब प्रकार का आश्चर्यजनक काम कर मनुष्य की रक्षा करता है वैसे ही सोमदेव अपने स्थान पर ही रहकर मेरी सहायता से आश्चर्यजनक कार्य करने के यश का भागी होकर प्रजा की रक्षा करे।"

---

१ विक्रम. तृतीय सर्ग ५४

राजा–

बिल्हण ने विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे कल्याणी के चालुक्यो की वश परम्परा की शुरूआत आदि पुरूष हारीत तथा मानव्य से की है। बिल्हण ने अपने ग्रन्थ मे कल्याणी के चालुक्यो की जिस वश परम्परा का सम्पूर्ण वर्णन किया है उस वश वृक्ष का क्रम से सक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है। राजा हारीत तथा मानव्य के वर्णन से ही बिल्हण ने ग्रन्थारम्भ किया है–

"विपक्षवीराद्भुतकीर्तिहारी हारीत इत्यादिपुमान्स यत्र।
मानव्यनामा च बभूव मानी मानव्यय य कृतवानरीणाम्।।"[1]

"जिस चालुक्य वंश मे आदि पुरूष हारीत नाम का हुआ जो विपक्षी राजाओ की आश्चर्यजनक कीर्ति का अपहरण करने वाला था। अभिमानी मानव्य नाम का राजा भी उसी वश मे हुआ जिसने शत्रुओ के अभिमान को तोड दिया था। इसके अनन्तर बिल्हण ने चालुक्य वंश के प्रतापी राजा तैलप का वर्णन किया है–

"श्रीतैलपो नाम नृप· प्रतापी क्रमेण तद्वशविशेषकोऽभूत।
क्षणेन य· शोणितपङ्कशेष सङ्ख्ये द्विषां वीररसञ्चकार।।"[2]

"क्रम से उस वश का तिलकरूप प्रतापी श्री तैलप नाम का राजा हुआ, जिसने युद्ध मे देखते–देखते शत्रुओ के वीररस रूपी जल को अपने प्रताप की गर्मी से सुखा कर खून के कीचड के रूप में परिणत कर दिया। अर्थात् शत्रुओं की वीरता नष्ट करते हुए युद्धभूमि को खून से भर दिया।"

---

१ विक्रम. प्रथम. सर्ग. ५८

२. विक्रम. प्रथम. सर्गः ६८

राजा तैलप के वर्णन के पश्चात् बास के स्वच्छ मोती की कान्ति के समान तेजस्वी सत्याश्रय नाम का राजा हुआ जिसकी क्रुद्धावस्था की भृकुटी के क्रोध स्वरूप तलवार ने शत्रुओ के मस्तको को भी चूर–चूर कर दिया।

अथ पञ्चभि श्लोकै सत्याश्रय वर्णयति कवि

"चालुक्य वशामलमौक्तिकश्री सत्याश्रयोऽभूदथ भूमिपाल।
खड्गेन यस्य भ्रुकुटिक्रुधेव द्विषा कपालान्यपि चूर्णितानि।।"[1]

श्री तैलय राजा के अनन्तर चालुक्य कुल मे बांस के स्वच्छ मोती की कान्ति के समान तेजस्वी सत्याग्रह नाम का राजा हुआ, जिसकी कुद्धावस्था की भृकुटी के क्रोध स्वरूप तलवार ने शत्रुओ के मस्तको को भी चूर–चूर कर दिया।

"यस्य प्रतापेन कदर्थ्यमाना प्रत्यर्थिभूपालमहामहिष्य ।
अन्वस्मरश्चन्दनपङ्किलानि प्रियाङ्कपालीपरिवर्तनानि।।"[2]

विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे आहवमल्लदेव जिसका दूसरा नाम त्रैलोक्यमल्ल था, के प्रतापो का वर्णन प्रस्तुत श्लोक मे दृष्टव्य है–

"तस्मादभूदाहवमल्लदेवत्रैलोक्यमल्लापरनामधेय.।
यन्मण्डलाग्र न मुमोच लक्ष्मीर्धाराजलोत्था जलमानुषीव।।"[3]

---

१. विक्रम. प्रथम सर्ग ७४
२. विक्रम प्रथम· सर्ग ८०
३. विक्रम प्रथमः सर्ग. ८७

चालुक्यवश का राजा सोमेश्वर अविवेकी, पापी प्रवृत्ति का एव मद्यप था। राजलक्ष्मी के मद मे चूर सोमदेव की सम्पूर्ण कीर्ति नष्ट हो जाने का पता ही नही चला। विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे इसका उल्लेख मिलता है–

"मदिरेव नरेन्द्रश्रीस्तस्याभून्मदकारणम्।
न विवेद परिभ्रष्ट यदशेष यशोशुकम्।।"[१]

इसके पश्चात् सोमेश्वर के अन्याय से पीडित जनता के कष्ट को दूर करने के लिए विक्रमाङ्कदेव ने सोमदेव के अन्यायी शासन को समाप्त करने के लिए सोमदेव को परास्त कर स्वय सम्राट बना। न्यायप्रिय चालुक्य राजलक्ष्मी का समादर करने के लिए तथा जनता को सुख–शान्ति प्रदान करने के लिए विक्रमाङ्कदेव ने राजलक्ष्मी का आलिगन किया। बिल्हण ने स्वय विक्रमाङ्कदेव की विजय का उल्लेख किया है–

"विहितसमरदेवतासपर्य· परिकरित क्षितिपालयुग्मलक्ष्म्या।
अथ शिथिलितकङ्कटस्तटान्त–स्थितकटका स जगाम तुङ्गभद्राम्।।"[२]

"दोनो राजाओ को परास्त करने के अनन्तर सग्राम के देवता का पूजन करने वाला, दोनो राजाओ की राजलक्ष्मी से आलिङ्गित अर्थात् राजलक्ष्मी को प्राप्त करने वाला और युद्ध समाप्त हो जाने से आवश्यकता न रहने के कारण कवच को ढीला करने वाला विक्रमाङ्कदेव, तट पर विद्यमान सेना वाली तुङ्गभद्रा नदी पर गया।"

---

१ विक्रम ४/६८

२ विक्रम. ६/६२

बिल्हण द्वारा वर्णित चालुक्यो की वशावली का सक्षिप्त वर्णन करने के पश्चात् राजा के विषय मे तथा समकालीन समय मे उसकी स्थिति का उल्लेख प्रासगिक है।

राजा को सदा सजग रहना पडता था। याज्ञवल्क्य ने राजा के गुणो मे 'महोत्साह' को सबसे ऊपर स्थान दिया है। जो भी प्रमाण उपलब्ध हैं, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि तैल द्वितीय और उसके उत्तराधिकारियो ने उन आदर्शों के अनुरूप आचरण करने का यत्न किया था। युद्धकाल हो या शाति, वे सदा नीतियो के निर्धारण और अन्य निर्णयो मे सक्रिय रूप मे भाग लेते थे। इसमे कोई शक नही कि उनकी सहायता के लिए योग्य और विश्वस्त मत्री होते थे और इन मन्त्रियो मे अधिकाश राजकाज के अलावा युद्ध की कला मे भी निष्णात् थे किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इन राज्यो मे कोई सुसगठित मन्त्रिपरिषद् न थी।

आवश्यक विषयो पर चर्चा के लिए जो भी सरदार या राजा का सभासद पास मे होता था, उसे बुला लिया जाता था। अन्य पदाधिकारी विभिन्न कार्यो से राज्य के विभिन्न भागो मे रहते थे। मन्त्रियो को अकेले या बैठको मे राय देने का अधिकार था और सम्राट उनकी बाते बडे ध्यान से सुनता था अथवा 'पुरोहित' से विचार विमर्श कर स्मृतियो की व्यवस्था का अनुगमन करता था। पुरोहित धार्मिक मामलों के अतिरिक्त विद्या और राजनय का भी पंडित माना जाता था।

इस प्रकार सम्राट के शासन का स्वरूप व्यक्तिनिष्ठ था और उसे सभी बातो पर ध्यान देने को तत्पर रहना पडता था। ये मामले चाहे बडे हों या छोटे या साम्राज्य के किसी अतिदूरस्थ स्थान से ही सबधित क्यो न हो राजा के पास दोनो

के लिए अगणित अर्जिया आती थी। उनके निपटारे के लिए भी उसे काफी समय देना पडता था।

राज परिवार में शिक्षा–दीक्षा–

अभिलेखो अथवा साहित्य मे राजकुमारो की शिक्षा–दीक्षा के बारे में कोई सूचना नही मिलती है। याज्ञवल्क्य स्मृति मे प्राचीन प्रथा की पुनरावृत्ति कर दी गयी है कि राजा को 'अन्वीक्षिकी' 'त्रयी' 'दण्डनीति' और 'वार्ता' का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए। याज्ञवल्क्य इस स्मृति पर टीका करते हुए अपरार्क या विज्ञानेश्वर ने किसी समसामयिक तथ्य का उल्लेख नही किया है। सोमेश्वर के 'मानसोल्लास' मे भी इस सम्बन्ध मे कोई अतिरिक्त बात नही कही गयी है।

विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे कल्याणी के विक्रमाङ्कदेव षष्ठ के बाल्यकाल से युवावस्था के मध्य विभिन्न प्रकार की शिक्षा जैसे खेलकूद, शस्त्रास्त्र चालन मे निपुणता तथा अध्ययन के पश्चात् वैदुष्य प्राप्त करने का वर्णन किया है। शिक्षा–दीक्षा का वर्णन करते हुए बिल्हण ने लिखा है कि शिशुकाल में विक्रमादित्य लोहे के पिंजडे में बन्द सिंह–शावको से खेलता था। इस श्लोक में कुछ ऐसा ही दृष्टव्य है।

"स पीडयन्नायसपञ्जरस्थान् क्रीडापरः केसरिणां किशोरान्।
समाददे भाविरिपुद्विपेन्द्र–युद्धोपयोगीव तदीयशौर्यम्।।"[1]

"खेलकूद मे लगे हुए उस बालक ने लोहे के पिंजरे में के शेर के बच्चो को

---

१. विक्रम. तृतीय सर्गः १५

तग कर भावी शत्रुरूपी गजेन्द्रो के युद्धो मे उपयोगी उनके शौर्य को मानो ले लिया। सिंह ही का शौर्य गजेन्द्रो के मारने मे समर्थ होता है इसलिए इसने शत्रुरूपी गजेन्द्रो को मारने के लिए मानो इनसे शौर्य छीन लिया।"

बाद मे उसने सभी लिपियो का ज्ञान प्राप्त किया और वह एक कवि और उत्तम वक्ता बना था।

विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे राजकुमार को कविता बनाने मे और युक्तिपूर्ण बाते करने मे अत्यन्त निपुण होना बताया गया है। ऐसा इस श्लोक मे प्रस्तुत है–

"लावण्यलुब्धाभिरलब्धमेव भूपालकन्यामधुपाङ्गनाभि·।
कवित्ववक्तृत्वफला चुचुम्ब सरस्वती तस्य मुखारविन्दम्।।"[१]

"उस राजकुमार के सौन्दर्य पर मोहित राजकन्या रूपी भ्रमराङ्गनाओ से अप्राप्य उसके मुख कमल को कवित्व तथा वक्तृत्व शक्ति देने वाली सरस्वती ने चूम लिया अर्थात् सरस्वती ने उसके मुख मे वास कर लिया। अत एव वह कुमार बाल्यकाल में ही कविता बनाने मे और युक्तिपूर्ण बातें करने में अत्यन्त निपुण हो गया।"

उच्च पदाधिकारियों और आम जनता के अधिगमों के बारे में अच्छी जानकारी मिलती है। हम यह मान सकते हैं कि एक ऐसे सुसंगठित समाज मे और एक ऐसी राज्यव्यवस्था में जिसमें सब कुछ राजा पर ही निर्भर था, राजकुमारों की शिक्षा–दीक्षा पर पूरा ध्यान दिया जाता रहा होगा।

---

१. विक्रम. तृतीयाः सर्गः १६

राज्याभिषेक–

बादामी काल की भाँति इस काल मे भी किसुबोलल मे ही राजाओ के 'अभिषेक' होते थे। १०७० ई० के एक अभिलेख मे इस स्थान को समस्त भुवनाश्रय श्री पृथिवी बल्लभो का महावीर सिहासन और देश के समस्त नगरो मे श्रेष्ठ कहा गया है क्योकि चालुक्यवश के सभी राजाओ के अभिषेक के महोत्सव यही होते थे। इस स्थान का आधुनिक नाम पकृदकल (अभिलेखप्रस्तर) हैं। यह नाम इसी ऐतिहासिक तथ्य की यादगार है। वयस्क होने पर 'युवराज' की नियुक्ति की प्रथा थी। युवराज को दो केन्द्रीय मडलो वेल्वोला ५०० और पुरिगेरे ३०० का शासक बना देते थे। युवराज पद का चिन्ह एक 'कठिका' होती थी। युवराज को कठिका पहनाने की प्रथा सभवत· राष्ट्रकूटो ने चलाई थी।

विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे वयस्क होने पर युवराज की नियुक्ति की प्रथा थी तथा उन्हे सम्पूर्ण राजकार्य का भार सौंप दिया जाता था और विधि–विधान से राज्याभिषेक की तैयारी की जाती थी। राज्याभिषेक में गगादि कुल नदियों से लाये गये पवित्र जल तथा कुल पुरोहित द्वारा निर्देशित अन्य पूजनीय सामग्रियो से मंत्र उच्चारण पूर्वक राज्याभिषेक किया जाता था। बिल्हण द्वारा दी गयी उपमाओं के आधार पर विक्रमाङ्कदेव के शुभ मुहूर्त में राज्याभिषेक का उल्लेख कर सकते हैं।

"मुखपरिचितराजहसभङ्ग्या सरसिरुहेष्विव पूरयत्सु शंङ्खान्।
सरिति घटिकयेव शोधयन्त्या प्रतिफलितार्कमिषेण लग्नवेलाम्।।"[1]

"कमलों के मुख पर या अग्रभागों मे प्रेमपूर्वक बैठे हुए राजहंसों के मिष से

१ विक्रम षष्ठः सर्गः ६४

मानो कमलो के शखो को बजाते रहने पर और नदी के जल मे प्रतिबिम्बित सूर्य बिम्ब के मिष से मानो नदी के, घटिका देखकर शुभमुहूर्त का विचार करते रहने पर विक्रमाङ्कदेव का राज्याभिषेक हुआ।

"अतिशिशिरतया मरुत्सु भक्त्या कुलसरितामिववारि धारयत्सु।
नभसि विकरतीव गाङ्गमम्भ पवनसमाहृतशीकरच्छलेन।।"[1]

"वायुओ के अत्यन्त ठडे होने से मानो उनके द्वारा भक्तिपूर्वक गङ्गादि कुल नदियो से (अभिषेक के लिए) लाए गए पवित्र जलो को धारण करते रहने पर, और आकाश के वायुओ के जल को छिडकते रहने पर (विक्रमाङ्कदेव का राज्याभिषेक हुआ)।"

युद्ध मे विजय प्राप्त होने के अनन्तर राजकुमार विक्रमाङ्कदेव ने पृथ्वी को अच्छा स्वामी मिल जाने से अपने स्वामियो की पराजय के सम्पूर्ण दु खों को दूर कर देने वाले आकाश मे गूँजने वाले चालुक्यवशीय राजाओं की राजलक्ष्मी के मनोमालिन्य को दूर कर देने वाले चालुक्यवशीय राजा विक्रमाङ्कदेव के राज्याभिषेक का चित्र प्रस्तुत है।

"अथ सुरपथवल्गाद्दिव्यभेरीनिनादं,
प्रशमितपरितापं भर्तृलाभात्पृथिव्याः।।"
अलभत चिरचिन्ताचान्तचालुक्य लक्ष्मी–
क्लममुषमभिषेक विक्रमादित्यदेवः।।"[2]

---

१. विक्रम षष्ठः सर्गः ६५

२. विक्रम. षष्ठः सर्गः ६८, ६६

राजा का विरूद–

इस काल के सभी औपचारिक दस्तावेजो मे सम्राट का पूरा विरूद यह था "समस्त भुवनाश्रय श्री पृथ्वीबल्लभ महाराजाधिराज परमेश्वर परमभट्टारक सत्याश्रयकुलतिलक चालुक्या भरण श्रीमत्"। इसके बाद राजा के अपने विरूद होते थे जिनके अत में मल्ल आता था। इस मल्ल विरूद से राजा की सही पहचान मे बाधा उपस्थित हो जाती है। कभी–कभी एक ही राजा के ऐसे दो–दो विरूद होते थे, जैसे सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल भी था और त्रैलोक्यमल्ल भी। इसमे कोई शक नहीं कि मूल अभिलेखों मे अथवा उनके खडित या नष्टप्रायः हो जाने पर उनकी फिर से तैयार की गई प्रतिलिपियो में कभी–कभी दुराख्यान भी हुए हैं।

सामंत राजा–

आधुनिक पुरालेख शास्त्रियो से बहुत पहले कवि पम्प ने लक्षित किया था कि सामंत राजाओं की 'प्रशस्तियां' बहुचर्चित 'समधिगतपच महाशब्द' से प्रारम्भ होती थी। उदाहरणार्थ ६६२ ई० के भोगलि अभिलेखो में कदंब आदित्यवर्मन अपने कुल की प्रशस्ति में वश–ध्वज, मुद्रा आदि का उल्लेख करता है। १०४४ ई० के एक नोलबधिराज सामंत के एक लेख मे उसके 'पट्टवध' (अभिषेक) का विशेषकर वर्णन है। १०७८–७६ में 'पेर्ग्गडे' कंबण्ण ने 'माडलिक' जोयिमथ्य को बेल्लारी जिले में कंबेश्वर के मंदिर में जमीन दान देने के लिए 'विन्नय' दिया था। इनके शासन का भी वर्णन प्रायः उसी प्रकार होता था जैसे सम्राट के शासन का।

ये भी अपने नेलेवीडु या 'राजधानी' से शासन करते थे। दुष्टों का दमन और सज्जनों की रक्षा करना, फुर्सत के समय उत्तम सामाजिक और बौद्धिक कार्य करना

इनका व्यवहार था। सम्राटो की भॉति इनके दरबार होते थे। इनके अपने मत्री और अन्य अधिकारी होते थे। ये सम्राट के अधिकारियो से पृथक् होते थे। एक अभिलेख मे तो एक सामत के कम से कम ५ मत्रियो का उल्लेख है।

राजा तथा सामंत राजा में अन्तर–

सम्राट से इसकी प्रशस्ति मे एक ही मुख्य भिन्नता यह पायी जाती है कि इनकी प्रशस्तियो मे उत्तरोत्तराभिवृद्धि प्रवर्धमानम् आचद्राक्र्कतारवरम् सलुतमङ्रे' जैसी पदावली नही लिखी जाती थी जैसी कि सम्राटो के लेखो मे मिलता है।

राजा के कर्तव्य–

किसी विजय के दौरान अव्यवस्था की स्थिति मे स्थानीय आचार आदि का जो भी अतिक्रमण हुआ हो, विजयी राजा का यह कर्तव्य है कि वह विजित राज्य के आचार व्यवहार की रक्षा उसी प्रकार करे जैसे अपने देश के आचार व्यवहार आदि की रक्षा करता है। चालुक्यवशियों ने इस नियम का पूर्णता से पालन किया था। विजित राजाओ को उनके प्रदेशो मे पुन प्रतिष्ठित कर दिया जाता था। उन्हे सम्राट की अधीनता माननी पड़ती थी और अपने दस्तावेजों के प्रारम्भ में सम्राट के उपाधियो के साथ उल्लेख करना पडता था। फिर वे तत्पाद 'पद्मोपजीवी' जैसी शब्दावली के बाद अपनी प्रशस्ति देते थे। भारतीय राजा का कर्त्तव्य शाति और व्यवस्था को बनाए रखना होता था जो कि एक अभावात्मक (निगेटिव) कर्तव्य है। राजा का परमकर्त्तव्य था कि वह प्रजा के विभिन्न वर्गों में, जातियों, निगमो, सप्रदायो, गाँवों, मंदिर और शेष सभी वर्गों में शान्ति और व्यवस्था कायम रखे। सभी अपने–अपने धर्मों का पालन करते रहे और एक–दूसरे के धर्म का अतिक्रमण न करे।

राज्य की स्थिति–

करीब–करीब दो सदियो तक, सिर्फ कुछ छोटी–छोटी बाधाओ और कुछ छोटे–छोटे उपद्रवो को छोडकर देश–विदेशी हमलो की तबाहियो से बचा रहा। चालुक्यो की सेनाए प्राय कुन्तल की सीमाओं के परे ही व्यस्त रही। जहॉ तक आतरिक सघर्ष का प्रश्न है सिर्फ एक बार सोमेश्वर द्वितीय और विक्रमादित्य के बीच बडे पैमाने पर गृहयुद्ध हुआ था। सोमदेव तथा विक्रमाङ्कदेव के मध्य युद्ध वर्णन निम्नवत् है–

अहमहमिकया प्रधाविताभ्या मिलितममुष्य बल तयोर्बलाभ्याम्।
सलिलमभिमुख सहाम्बुराशेस्तदनु महानदयोरिवोदकाभ्यांम्।।[1]

जहॉ तक भारतीय लेखको के साहित्य या अन्य ग्रन्थों का सम्बन्ध है उन्हे वास्तविक घटनाओ में कोई रुचि न थी। उदाहरण के तौर पर बिल्हण ने लिखा है कि विक्रमादित्य ने रामराज्य की स्थापना की। प्रजा को अपने घरों में ताले लगाने की आवश्यकता न थी। रात्रियो मे किवाडा (दरवाजा) बन्द करने की परवाह न करने वाले, घर की रक्षा की चिन्ता न रखने वाले लोग खर्राटा मारकर सोते थे।

जनैरवज्ञातकपाटमुद्रणै· क्षपासुरक्षाविमुखैरसुप्यत।
कराविशन्ति स्म गवाक्षवर्त्मसु
क्षपापतेश्छिद्रपथैर्न तस्कराः।।[2]

इसके विपरीत बहुत से ऐसे अभिलेख मिले हैं जिनमें कानून और शातिभंग की

---

१. विक्रम. षष्ठ, सर्गः ६६
२. विक्रम. सप्तदशः सर्गः ६

घटनाओ का जिक्र है। मैसूर के शिभोगा जिले से दो अभिलेख मिले हैं जिनमे एक मे ६७५ ई० मे एक सडक पर किसी 'गावुड' के एक पुत्र कल्लन का डाकुओ द्वारा वध किये जाने का उल्लेख है। दूसरे अभिलेख मे जो ६७६ ई० का है, लुटेरो से गॉव की रक्षा करते एक मनिहार की मृत्यु का उल्लेख है। १००७ ई० मे होट्टूर के 'तलारि' की लुटेरो से सघर्ष मे मृत्यु हुई थी। ये लुटेरे गॉव के जानवर चुराने आये थे। १०१६ ई० के एक अभिलेख मे लिखा है कि मुलगेरे के गॉव से कुछ स्त्रियो का बलपूर्वक अपहरण हो रहा था। कुम्भर वर्ग ने उनका उद्धार किया, किन्तु इस सघर्ष मे उसे अपनी जान से हाथ धोना पडा। १०३२ ई० मे जानवरो के अपहरण के लिए एक डाके का उल्लेख मिला है।

सन् १०४७ ई० मे कोगलि (वेल्लारी) के पडोस मे एक स्थानीय सरदार उपमादित्य एचनायक की चोरो से लडाई मे मृत्यु हुई थी। सन् १०४६ ई० मे जानवर चोरो से हुए संघर्ष मे वेंटूर का 'मादिमत्य' वीरगति को प्राप्त हुआ। १०५८ ई० मे शिभोगा जिले के शिकारपुर तालुक, मे मुडयनगेरि से जानवर और औरतों को लूटने के लिए डाकू आए थे।

११२७ ई० मे शिभोगा के उद्रि की सतर के राजा से टक्कर हुई। इस राजा ने कदब तैलप के विरूद्ध विद्रोह किया था। उसके कारण गॉव की भूमि और स्त्रियो को कष्ट हुआ था। ११४६ ई० मे करकद चन्द्र 'दण्डनायक' के साले मधुवरस ने कुरुमरि (कुडप्पा जिला) पर चालीस घुडसवारो के साथ हमला किया था।

मंत्री—

११वी शताब्दी मे मत्रियो की स्थिति उत्तर भारत से दक्षिण भारत पर्यन्त लगभग एक जैसी थी। मंत्री राजा का प्रमुख परामर्शक होता था तथा राजकार्य मे

मंत्री की अहम भूमिका होती थी। सम्राट को सम्पूर्ण सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, व कूटनीतिक स्थिति से अवगत कराकर राज्य हित में सम्यक् निर्णय लेने मे सहायक की भूमिका मंत्री की होती थी।

मंत्री के कार्य एवं जिम्मेदारी राजा के समान ही थी। राज्य के करसग्रह पर सम्यक् दृष्टि रखना, जनता के हितो को ध्यान मे रखकर करारोपण के नियम निर्मित करना, जनता के दु खदर्द की समीक्षा करना तथा उससे राजा को अवगत कराना, राज्यगत समस्याओ पर करणीय एव अकरणीय के भेद से राजा को अवगत कराना व परामर्श देना, सम्राट के शासन को सुचारू रूप से चलाने मे सम्पूर्ण मानसिक सहयोग करना, समस्त कूटनीतिक निर्णयो पर विचार विमर्श पूर्वक राज्यहित को सर्वोपरि बताना व राजा का सहयोग करना। इस प्रकार से मत्री की स्थिति राजा के बाद राज्य में द्वितीय सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति की थी। यह राजा के पश्चात् आधिकारिक निर्णय लेने वाल राज्य का प्रमुख व्यक्ति होता था।

बिल्हण ने अपने ग्रथ मे राजा अनन्त के मत्री हलधर द्वारा ब्राह्मणो से अग्रहार (निवास स्थान पर ग्राम) बसाये जाने का वर्णन किया है, जो मत्री की शक्ति के प्रयोग का प्रदर्शन है–

"अस्त्यन्योन्यग्रथितलहरीदोर्लताबन्धबन्धु–
र्मध्ये यस्य क्षपितकलुष· सङ्गम पुण्यनद्योः।
यस्योत्सङ्गे हलधरकृतास्ते जयन्त्यग्रहारा
ये धर्मस्य क्षतकलिभया· शैलदुर्गीभवन्ति।।"[1]

---

१. विक्रमा अष्टादशः सर्ग· १६

राजगुरु–

अभिलेखो मे अनेक 'राजगुरूओ' के उल्लेख हैं। ये प्राय· शैव होते थे। इनमे कई जैन भी थे। ये राजगुरू पौरोहित्य कर्म भी करते थे। परामर्शदाताओ मे इनका ऊँचा स्थान था। ये आध्यात्मिक विषयो मे राजा और उनके परिवार का मार्गदर्शन करते थे। राजा विक्रमाङ्कदेव द्वारा पौरोहित्य कर्म का वर्णन प्रस्तुत श्लोक मे किया गया है–

"नृपेन्दुना चन्दनचारूलेखा ललाटपट्टे लिखिता दधार।
वक्त्रारविन्दस्थितसूक्तिदेवी–देवार्चनस्फाटिकलिङ्गभङ्गीम्।।"[1]

"राजा विक्रमाङ्कदेव ने अपने ललाट पर लगाई हुई चंदन की लकीर अथवा लम्बा चन्दन, उसके मुख रूपी कमल मे रहने वाली सरस्वती की, महादेव की पूजा करने के स्फटिक के बने शिवलिङ्ग की समानता प्रकट करती थी।"

कुलपुरोहित–

प्राचीन काल मे प्रत्येक वंश का एक–एक कुलपुरोहित होता था, जो राजा के साथ सर्वत्र गमन करता था। वैदिक युग मे 'राजपुरोहितो' का कोई अलग पद नही था, अपितु यह मत्री पद के साथ ही सयुक्त था। राजा की अनुपस्थिति में अमात्य या सचिव राजपुरोहित से विचार किए बिना किसी भी राजनीतिक कार्य को सम्पन्न नही करते थे। राजा के राजनीतिक तथा धार्मिक कार्यों को सम्पन्न कराने के लिए पुरोहित होते थे। इस प्रकार पुरोहित राजा का राजगुरू एवं सर्वाधिक हितचिन्तक

---

१. विक्रम द्वादशः सर्ग· ४४

था। विक्रमाङ्कदेव के जन्म के पश्चात् शास्त्रीय विधियो के ज्ञाता कुलपुरोहित द्वारा जातकर्म आदि धर्मकृत्यो को कराने वाले कुल पुरोहित का वर्णन बिल्हण ने किया है–

अथ समुचिते कर्मण्यास्थापरेण पुरोधसा
कथितमवनीनाथ सर्वं विधाय विधानवित्।
प्रति मुहुरसौ सूनुस्पर्शान्महोत्सवमन्वभू–
दिह हि गृहिणा गार्हस्थस्य प्रधानमिद फलम्।।[१]

कोश–

आकृश्यते, कृश + अच्। खजाना– 'कोश' शब्द की व्युत्पत्ति 'कृश' एव 'कुश' दोनो ही धातुओं से विद्वानों ने मानी है। प्रजा तथा अन्य साधनों द्वारा (खीचकर) जहाँ धन एकत्र किया जाएँ, वह कोश कहलाता है।

राज्य की सीमा के अन्तर्गत लगने वाले कर, लगान, सम्राट को मिलने वाला उपहार, नजराना आदि तथा सैन्य अभियान के पश्चात्–लूट सेमिली सम्पत्ति का सचय कोश के रूप मे होता है। कोश की समृद्धि पर ही राजा का विकास कार्य, सैन्य–विस्तार, भव्य भवन तथा स्मारक आदि का सृजन निर्भर करता था। विक्रमादित्य षष्ठ तथा कल्याणी के चालुक्यो के द्वारा अत्यन्त महगे तथा भव्य भवनो के निर्माण का जो वर्णन बिल्हण ने किया है उससे उनके समृद्ध कोश का आभास मिलता है।

---

१ विक्रम. द्वितीय सर्ग· ६१

कानून और न्याय–

सम्राट प्रशासन का ही प्रधान न था, वह उच्चतम न्यायालय भी था। साथ ही वह प्रधान सेनापति और सभी सम्मानो का उत्स भी था। विधायिका शक्ति जैसा कि हम उसका आज अर्थ लेते हैं, राजा मे निहित न थी। किन्तु विवाद अथवा विरोध की स्थिति मे राज्य का प्रधान होने के नाते उसे यह अधिकार प्राप्त था कि वह अपने विधि मर्मज्ञो से परामर्श कर यह घोषित करे कि कौन सी व्यवस्था अथवा आचरण विहित है और यदि वर्तमान कानून अथवा व्यवहार में कोई व्यवस्था उपलब्ध न हो तो वह नए विनिर्णय नही दे सकता है।

यही प्रक्रिया अधीनस्थ न्यायालयो मे भी चलती थी और ऐसा प्रतीत होता है कि कानूनों की व्यवस्था के नाम पर निर्णयो के रूप में भी पर्याप्त मात्रा मे नए कानून भी बनते रहते थे। इसमे शर्त यह थी कि यह सब न्याय और अधिकारो के जो मौलिक सिद्धान्त स्मृतियो मे निर्धारित और शिष्टो मे नामित थे। उसी के अनुरूप होना चाहिए। कुल मिलाकर राजा न्यायपालिका का भी सर्वोच्च होता था। किसी भी विवादित या अत्यन्त गम्भीर मामले पर राजा का निर्णय ही अतिम होता था। अर्थात् सम्राट. अतिम अपीलीय अदालत था। वैसे विवादित मामलों पर प्राय सम्राट विधि मर्मज्ञो तथा ज्ञानी मत्रियो की रायशुमारी से ही निर्णय लेता देता था। निरंकुशता पूर्ण निर्णय शायद नही दिये जाते थे। यद्यपि राजा निर्णय देने में स्वतंत्र थे। तथापि वह जनहित को ही सर्वोपरि मानते था।

दुर्ग–

कल्याणी के चालुक्यो मे दुर्ग निर्माण व उसके सुदृढ होने के प्रति सजगता

वहाँ दुर्गों को देखकर ऑकी जा सकती है। राजमहल राज्य की शासन सत्ता का केन्द्रबिन्दु तथा राजा का आवास होता था। यह कूटनीतिक, राजनीतिक व सामरिक गतिविधयाँ संचालित करने का मुख्य केन्द्र होता था। राजा के सगे सम्बन्धी राज परिवार के लोग, राजमहल मे ही रहते थे। राज्य की सत्ता तथा समृद्धि का प्रतीक राजा होता था। अत उसकी सुरक्षा भी सर्वोपरि थी।

प्राचीर–

इसीलिए सुरक्षा की दृष्टि से महलो को मोटी दीवारो वाली अत्यन्त विशाल एव ऊँची दीवारों वाला बनाया जाता था। महलो को ही दुर्ग कहते थे। बिल्हण ने अपने ग्रन्थ में राजगृहों के अत्यधिक ऊँचे होने का वर्णन किया है–

> "यस्मिन्नुर्वीपतिगृहततेस्तुङ्गिमा वर्ण्यते कि–
> तस्याश्चञ्चच्चतुरवनिता भूषितानेकभूमे ।
> जाने यस्या कुसुमधनुष स्वर्गरामामनासि
> क्रीडावातायनकृतपदस्यैव लक्षीभवन्ति ।।"[1]

राजमहल केवल मजबूत और सुदृढ ही नही होते थे अपितु इन दुर्गों का निर्माण अत्यन्त मँहगे तरीके से किया जाता था। बिल्हण के वर्णनो से महलो की भव्यता तथा उनके स्वर्णादि आभूषण जटित मँहगे होने का ज्ञान होता है। महल को सुन्दर सुवर्ण निर्मित खिडकियो से सजाया जाता था। जिससे वातानुकूलन तथा सौन्दर्य वृद्धि सुलभ भवन हो जाता था। बिल्हण ने सोने की खिडकियाँ लगे होने का वर्णन किया है।

---

१ विक्रम. अष्टादश· सर्ग· ३०

"सुवर्णवातायनतुङ्गभूमिषु,
स्थिता प्रमोद ददुरस्य नन्दना।
कृतास्पदा स्वीयविमानशङ्कया,
प्रविश्य विद्याधरबालकाइव।।[1]

केवल खिडकियॉ ही नहीं दीवारें भी स्वर्ण निर्मित होने का वर्णन विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे मिलता है। यदि स्वर्ण निर्मित दीवारो को हम अतिशयोक्तिपूर्ण विवेचन मान ले, तो भी इससे एक चीज स्पष्ट हो जाती है कि दीवारों के निर्माण में भी अत्यधिक धन व्यय होता था। दुर्गों के अन्दर आवागमन हेतु तथा ऊपर–नीचे आने के लिए सीढ़ियों के निर्माण मे भी अत्यधिक धन व्यय होता था। दुर्गों के अन्दर आवागमन हेतु तथा ऊपर–नीचे आने जाने के लिए सीढियो का निर्माण कराया जाता था। आपात्काल के समय ये सीढियॉ सुरक्षित महल से निकलने मे सहायक होती थी। बिल्हणकृत वर्णन प्रस्तुत है–

"यदीयसोपानपथाधिरोहणे,
नितम्बिनिनां विनिपातभीतित·।
मयूखदण्डैस्तपनीयनिर्मिता
करावलम्ब ददतीव भित्तय·।।[2]

"सोने की बनी इस महल की भीते, इसकी सीढियों से ऊपर चढने में, बडे–बडे नितम्बवाली कामिनियो को गिर पडने के डर से, अपने किरण रूपी डन्डो से मानो उन्हे हाथ का सहारा दे रही हैं।

---

१ विक्रम सप्तदश· सर्ग· १०
२. विक्रम सप्तदश सर्ग ३१

गुप्तचर–

गुप्तचर विभाग राजकाज का एक आधार स्वरूप विभाग होता था। शासन प्रशासन को सुनियोजित तरीके से सचालित करने के लिए तथा वाह्य सीमाओ पर होने वाली कूटनीतिक गतिविधियो के समुचित जानकारी के लिए गुप्तचर अत्यन्त उपयोगी होते थे। राजा का कूटनीतिक कदम व आधिकारिक निर्णय गुप्तचरो की सूचना पर ही निर्भर करता था। सीमान्त देशो की कूटनीतिक चालों का जवाब प्राय गुप्तचर की सूचना पर ही निर्भर करता था। सीमान्त देशो की कूटनीतिक चालो का जवाब राजा प्रायः गुप्तचर की सूचना पर, मत्रियो की सलाह लेकर ही दिया करता था। राजभवन व राज्य मे होने वाली गतिविधियो की सूचना सही समय पर राजा को प्राप्त कराना गुप्तचर का प्रमुख कार्य था। इन कार्यों को गुप्तचर जिम्मेदारीपूर्वक बखूबी सम्पादित करते थे।

विक्रमाङ्कदेवचरितम् के नायक विक्रमाङ्कदेव के छोटे भाई जयसिह द्वारा द्रविड देश के राजा को नजराना आदि देकर अपनी ओर मिलाने तथा विक्रमाङ्कदेव के विरूद्ध अभियान की योजना को सही समय पर विक्रमाङ्कदेव को देने का बिल्हण ने वर्णन किया है तथा गुप्तचर को, गुप्तचर कर्म मे निपुण बताया है–

"इत्युदीर्य विरते विशारदे तत्र शारदमृगाङ्कनिर्मल।
नाभ्यधत्त सहसा किमप्यसौ न त्वरा दधति धीरचेतस.।।"[१]

बिल्हण ने अपने ग्रन्थ मे गुप्तचरो के महत्व पर प्रकाश डालते हुए उनकी

१ विक्रम चतुर्दशः सर्ग· १४

तुलना राजा के नेत्रो से की है। कहने का आशय यह है कि राज्य की स्थिति, सीमाओ की स्थिति, तथा राज्य के अन्तर्गत चल रही कूटनीतिक गतिविधयो पर राजा गुप्तचर रूपी नेत्रो के माध्यम से ही नजर रखता था।

"मन्त्रवित्तदनु चारचक्षुषा तत्तथेति बहुधावधार्य स।
कि विधेयमितिचिन्तयान्वित क्ष्मापति स्वगतमित्यचिन्तयत्।।"[१]

"गुप्तचर के चले जाने के बाद निपुण राजा विक्रमाङ्कदेव गुप्तचर रूपी नेत्रो से अर्थात् गुप्तचरों से, जो बात मालूम हुई है वह वैसी ही है अर्थात् सत्य है, इसका हर पहलू से निश्चय कर, क्या करना चाहिए, इस चिन्ता से युक्त होकर अपने मन मे सोचने लगा।"

गुप्तचर देश की सीमाओं तथा सीमान्तप्रान्तो पर ही नहीं अपितु सम्पूर्ण पृथ्वी पर होने वाली घटनाओं पर नजर रखते थे, तथा समय–समय पर उन घटनाओ की सूचना राजा को प्रेषित करते रहते थे। गुप्तचरो का सूचनातत्र जिस राजा का जितना समृद्ध होता था, वह राजा उतना ही प्रभावशाली होता था। कहने का आशय यह है कि गुप्तचरो का तत्र राजा के सशक्त तथा सर्वमान्य होने का आधार था।

"निवेदितश्चारजनेन नाथ तथा क्षितौ सम्प्रति विप्लवो मे।
मन्ये यथा यज्ञविभागभोग स्मर्तव्यतामेष्यति निर्जराणाम्।।"[२]

"हे नाथ ब्रह्मा जी! गुप्तचर ने पृथ्वी पर होने वाले ऐसे उपद्रवों की मुझे

१ विक्रम चतुदर्श सर्गः १८
२. विक्रम प्रथमः सर्ग ४४

सूचना दी है जिनसे देवताओ का, यज्ञो मे मिलने वाले भागो का उपभोग, केवल स्मरण करने का ही विषय हो जाएगा, ऐसा मैं अनुमान करता हूँ। अर्थात् ऐसे उपद्रवो से भविष्य मे यज्ञो मे देवताओ को भाग नही दिया जाएगा ऐसा मेरा अनुमान है।"

गुप्तचर किस प्रकार मन्त्रियो तथा राजा के अन्त करण की बात जान लेता था तथा राजहित मे वह मन्त्रियो, सामन्तो तथा अन्य प्रमुख सरदारों से सम्बन्धित जानकारी उपलब्ध कराकर कूटनीतिक निर्णय लेने मे सहायता करता था।

बिल्हण ने इसका उल्लेख अपने ग्रन्थ विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे किया है–

"एवमादिभिरनेन बोधित· कोविदेन वचनै पुन पुन।
ज्ञातचोलहृदय· स्वय च स प्राड्निवेदितमगान्नदीतटम्।।"[1]

"इस चतुर व लौकिक व्यवहार मे कुशल दूत द्वारा ऐसी–ऐसी बातो से बार–बार समझाया हुआ और स्वय भी अपने गुप्तचरो से चोल राजा के हार्दिक भाव को जान लेने वाला, विक्रमाङ्कदेव, पूर्व सूचित तुङ्गभद्रानदी के तट पर गया।"

युद्ध–

अपने पराक्रम एव पुरूषार्थ को सिद्ध करने के लिए एक राजा दूसरे राजा पर आक्रमण करता था। विजित होने की स्थिति मे पराजित राज्य की मान–मर्यादा एव राजलक्ष्मी का अपहरण कर लेता था तथा अपनी इच्छाएं थोप देता था। कभी–कभी दोनो राज्यो में युद्ध द्वारा निर्णय न हो पाने पर दोनो राज्यों में संधि की स्थिति बन

---

१ विक्रम पञ्चमः सर्ग. ६०

जाती थी। जिसमे दोनो राज्यो के हितो का सम्मान करते हुए पक्षद्वय हेतु एक मसौदे पर सहमति हो जाती थी। जहॉ पर युद्ध आत्म–सम्मान वृद्धि, पराक्रम सिद्धि एव यश हेतु होते थे। वही पर कभी–कभी राजाओ को आत्मरक्षार्थ भी युद्ध करना पडता था।

कल्याणी के चालुक्य राष्ट्रकूट वश के स्थानापन्न थे तथा युद्ध द्वारा ही अपनी सत्ता को कायम रखे हुए थे। कल्याणी का चालुक्य शासक विक्रमादित्य षष्ट युद्ध कौशल और समराङ्गण मे अपने अद्वितीय पराक्रम से समकालीन राजाओ को अपनी शक्ति का एहसास कराते हुए निष्कटक राज्य का स्वामी बना रहा।

विक्रमाङ्कदेव मे वर्णित युद्ध के उल्लेखो मे कुछ का वर्णन प्रस्तुत है–

"शौर्योष्मणा स्विन्नकरस्य यस्य सख्येषु खङ्गप्रतिपक्षकाल.।
पुरन्दरप्रेरितपुष्पवृष्टि – परागसङ्गान्निविडत्वमाप।।"[1]
"यस्याञ्जनश्यामलखड्गपट्ट – जातानि जाने धवलत्वमापु।
अरातिनारीशरकाण्डपाण्डु – गण्डस्थलीनिर्लुठनाद्यशांसि।।"[2]
"स्फूर्जद्यशोहंसविलासपात्र निस्त्रिशनीलोत्पल मुत्प्रभ य।
उत्तसहेतोरिव बीरलक्ष्म्या सग्रामलीला सरसश्चकर्ष।।"[3]

"युद्धो मे पराक्रमरूपीगर्मी से, पसीने से भरे हाथ वाले राजा का शत्रुओ का कालरूप खड्ग इन्द्र द्वारा की हुई पुष्पवृष्टि के पराग के सम्बन्ध से गाढापन आ जाने से, हाथ मे अधिक दृढ हो गया। अर्थात् हाथ मे पसीना आ जाने से कोई वस्तु दृढता से नही पकडी जा सकती। मिट्टी लगा देने से फिर दृढ़ता आ जाती है।"

---

१. विक्रमादेवचरितम् प्रथम सर्ग ७०
२ विक्रमादेवचरितम् प्रथम सर्ग. ७१
३ विक्रमादेवचरितम् प्रथम· सर्ग ७२

"जिस राजा तैलप के कज्जल के समान काली तलवार रूपी पट्टी से समुत्पन्न यश, शत्रुओ की स्त्रियो के सरहरी के डण्डे के समान सफेद पडे हुए कपोलस्थलो के सम्पर्क से श्वेतवर्ण हो गये थे– ऐसा मैं समझता हूँ। अर्थात् काले रङ्ग के खड्ग से शुभवर्ण यज्ञ की उत्पत्ति असम्भव है। इसलिए यह यश का श्वेतवर्ण शत्रुओ की स्त्रियो के सफेद पड गए हुए गण्डस्थलो की सफेदी के सम्बन्ध से प्राप्त हुआ होगा ऐसा मै समझता हूँ।

"जिस राजा तैलप ने युद्धभूमि रूपी क्रीडासर के फैलने वाले यश रूपी हंस के क्रडास्थान भूत चमकने वाले खड्गरूपी नीलकमल को मानो वीर लक्ष्मी के शिरोभूषण बनाने के लिए खीचा। अर्थात् जिस प्रकार क्रीडावापी से हस को आनन्दित करने वाले चमकदार नीले कमल को निकालकर कोई अपनी प्रेयसी को भूषित करता है। उसी प्रकार युद्ध भूमि से फैलने वाले यश के विना–सस्थानरूप चमकने वाले खड्ग को वीरता की शोभा के लिए उसने खींचा।"

युद्ध प्रणाली–

युद्ध के समय सैनिको की सख्या की दृष्टि से पैदल सेना सबसे बडी सेना होती थी। जो सेना की अग्रिम पक्ति होती थी। हमले का आदेश मिलते ही सेना के अग्रभाग मे रहने वाले पैदल सैनिक शत्रु की सेना पर आमने–सामने के मल्ल युद्ध के लिए टूट पडते थे। पैदल सैनिको के पीछे तथा बीच–बीच में अश्वारोही सैनिक जो घुडसवारी मे निपुण तथा घोडे पर सवार होकर युद्ध करने में महारत हासिल प्राप्त थे, रहते थे। ये सेनापति तथा राजा की इच्छा से तेजी से आक्रमण करने तथा सवेदनशील परिस्थितियो मे युद्ध के रूख के अनुरूप कार्य करते थे।

हस्ति सेना, सेना का पश्च भाग तथा सेना की मजबूत रक्षापक्ति के रूप मे कार्य करती थी। राजा स्वय पूर्णतया सुरक्षित कवचो के मध्य हाथी पर सवार होकर युद्ध भूमि मे आता था और युद्ध करता था।[१]

अस्त्र और शस्त्र–

किसी भी युद्ध मे शस्त्र और अस्त्र युद्ध रूपी पर्वतारोहण के सोपान होते हैं। युद्ध की सफलता शस्त्रास्त्रो की कुशलता पर ही निर्भर करती है। विक्रमाङ्कदेव की सेना द्वारा प्रयोग किये गये तथा जिन अस्त्रो एव शस्त्रो का प्रयोग होता था, विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे लगभग उन सभी का वर्णन मिलता है। वैसे तो सेना द्वारा प्रयोग मे लाये जाने वाले औजारो मे धनुष–बाण, भाला, बरछी, तलवार छूरी, गडासा, गुलेल आदि का बडे पैमाने पर प्रयोग होता था।

शस्त्र और अस्त्र मे अन्तर यह है कि शस्त्र को हाथ में पकडकर चलाया जाता है और इसका हाथ से सम्बन्ध विच्छेद नही होता, जैसे– तलवार, छूरी, धनुष आदि। जबकि अस्त्र यद्यपि हाथ से सचालित होता है तथा हाथ से फेककर इसका प्रहार किया जाता है। जैसे– भाला, बाण, गुलेल आदि।

तलवार–

प्राचीन काल से लेकर मध्यकाल तक तलवार प्रमुख युद्ध शस्त्र थी। विकसित नगरीय सभ्यताओ तथा आदिवासी जनजातीय इलाको मे भी तलवार ही मुख्य शस्त्र हुआ करती थी। मध्यकाल मे भी उत्तर भारत से लेकर दक्षिण भारत तक इसकी

---

१. विक्रमाङ्कदेवचरितम् सप्तदश. सर्गः ४५ से ६० तक

उपयोगिता बनी रही। विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे बिल्हण ने सैनिको, सेनापतियो तथा राजा के द्वारा तलवार के प्रयोग का प्रभूत मात्रा मे वर्णन किया है–

"यस्यासिरत्युच्छलता रराज धाराजलेनेव रणेषु धाम्ना।
दृप्तारिमातङ्गसहस्रसङ्गामभ्युक्ष्य गृह्णन्निव वैरिलक्ष्मीम्।।"[1]

"जिस राजा की तलवार, युद्धो मे ऊपर उठने वाले अपनी धार के जल के समान तेज से मदोन्मत्त हजारो शत्रुरूपी हाथियो के अथवा हजारो शत्रु चाण्डालो के ससर्ग दोष से अपवित्र शत्रुओ की लक्ष्मी का मानो प्रेक्षण कर ग्रहण करती हुई शोभित हुई। अर्थात् अपवित्र शत्रुलक्ष्मी पर अपनी तेजधार का पानी छिडक, उसे पवित्र कर उसका ग्रहण किया। ("अपवित्र वस्तु पर गङ्गाजल छिडक कर पवित्र करने की परिपाटी है।")

"सत्यत्यागप्रमुखनिखिलोत्कर्षसम्पत्तिसीमा,
तस्मिन्नासीदवनिवनितावल्लभोऽनन्तदेव ।
वैरिस्तम्बेरमघनघटागर्जितानामगम्ये,
चक्रे धारायपसि यदसे· कीर्तिहसी निवासम्।।"[2]

"उस प्रवरपुर मे सत्य, त्याग आदि समग्र उत्कर्ष रूपी सम्पत्ति के सीमास्वरूप पृथ्वीरूपी स्त्री के पति राजा अनन्तदेव राज्य करते थे। शत्रु के हाथी रूपी मेघो की गर्जनाओ के लिए अगम्य जिसके खड्ग, के धारारूपी जल में कीर्तिरूपी हंसी निवास करती थी। अर्थात् तलवार की तीखी धार से शत्रुओं का नाश करने से

---

१ विक्रम. प्रथम सर्ग १०४

२ विक्रम. अष्टादश. सर्ग ३३

उसकी कीर्ति चारो ओर फैल गई थी।"

धनुष–बाण–

धनुष–बाण युद्ध के प्रमुख अस्त्र के रूप मे प्रयोग में लाया जाता था। युद्ध के समय सेना का एक भाग जो धनुष–बाण चलाने मे निपुण होता था। शत्रु सेना पर घातक हमला करता था। धनुर्धारियो के प्रचण्ड प्रहार से युद्ध के परिणाम के परिवर्तित होने के उल्लेख भारतीय इतिहास मे प्रर्याप्त रूप मे मिलते हैं। यद्यपि धनुष–बाण का उल्लेख तो प्राचीन काल से ही मिलता है तथापि इस काल मे धनुष–बाण ने युद्ध के शस्त्रास्त्रो मे अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया था। बिल्हण ने अपने ग्रन्थ मे इसका सेनाओ द्वारा प्रयोग होते हुए तथा उपमाओ मे बारम्बार उल्लेख किया है–

"अतिष्ठदंसे सुभटस्य चञ्चलं शिर,
क्षुरप्रेण यदर्धखण्डितम्।
तदेष वामेन विधृत्य पाणिना,
प्रधावित क न चकार वदिनम्।।"[1]

"विशिष्ट बाण से आधा कटा हुआ और हिलता हुआ जो सिर उस वीर के कन्धे पर था उस बाए हाथ से पकडकर दौड पडे उस वीर ने किसको अपना स्तुति पाठक नहीं बनाया अर्थात् सब उसकी स्तुति करने लगे।"

धनुष–बाण की शिक्षा तथा उसके अभ्यास पर भी पर्याप्त ध्यान दिया जाता था। बिल्हण ने अपने ग्रन्थ में राजकुमारो के धनुष–बाण का अभ्यास करने का वर्णन

---

१. विक्रम सप्तदश. सर्ग. ४८

किया है–

"अभ्यासहेतो क्षिपत पृषत्कान् नरेन्द्रसूनो सकलासु दिक्षु।
प्रहारभीतेव परिभ्रमन्ती पार्थस्य कीर्तिर्विरलीबभूव।।"[1]

"अभ्यास करने के लिए सब दिशाओ मे बाणो को चलाने वाले उस राजपुत्र के बाणो के प्रहार के भय से मानों डरी हुई, चारो ओर भागने वाली (अर्जुन के पक्ष मे) चारो ओर फैली हुई अर्जुन की बाण चलाने की कीर्ति सकुचित हो गई। अर्थात् अभ्यास काल में ही वह राजपुत्र बाण चलाने की कला मे अर्जुन से भी कुशल था।"

धनुष की डोरी और तरकस के चित्रण वाला अश प्रस्तुत है–

"सौवर्णकङ्कणश्रेण्या भाति तद्बाहुकन्दली।
तूणा चम्पकमौर्व्येव पुष्पचापेन वेष्टिता।"[2]

"सोने के अनेक कंगनों से घिरी हुई चन्द्रलेखा की भुजलता मानो कामदेव द्वारा चम्पे के फूलों की धनुष की डोरी से लपेटे हुए तरकस की शोभा दे रही थी।"

गड़ासा–

गडासे का भी युद्ध मे प्रयोग होता था। तलवार के समान ही गडासा भी प्रमुख शस्त्र था। हमलो के समय गडासे से प्रत्यक्ष प्रहार किया जाता था। बिल्हण ने इसका वर्णन करते हुए लिखा है–

---

१ विक्रम तृतीया सर्ग. १८
२ विक्रम अष्टमः सर्ग ५६

"असिना विशिखै सतोमरै सहसा कुञ्जर धावनेन च।
स सहस्रमिवोद्वहन्करान् प्रतिपक्षक्षयदीक्षितोऽभवत्।।"[1]

"वह विक्रमाङ्कदेव तलवार को गडासे को और बाणो को सतत चलाता हुआ, और शीघ्रता से हाथी को दौडाने से मानो हजारो हाथो को धारण करता हुआ शत्रुओ के नाश करने मे तत्पर हो गया।"

गुलेल–

ग्रामीण इलाकों में तथा समाज के सामान्य वर्ग के मध्य के शिकार के लिए तथा कभी–कभी दूर वाले लक्ष्य को साधने के लिए प्रयोग मे लाया जाता था। यह मुख्य रूप से बहेलिया द्वारा प्रयोग मे लाया जाने वाला हथियार था। युद्ध के समय निशाना लगाने मे निपुण सैनिको को गुलेल के प्रयोग के लिए आक्रमण पक्ति मे रखा जाता था। बिल्हण ने अपने ग्रन्थ के तेरहवे सर्ग मे गुलेल के प्रयोग का वर्णन किया है–

द्रवन्ति हसा सुरचापचुम्बिन पयोदवृन्दान्निपतत्सु विन्दुषु।
प्रवर्तमाना गुलिकाधनुर्मुखाद् विशङ्कमाना इव गोलकावलिम्।।"[2]

हसलोग इन्द्रधनुष तक ऊँचे पहुँचे हुए मेघो से गिरने वाली बूंदों को मानो गुलेलो से छूटी हुई गोलियो का सन्देह कर जोरो से भाग रहे हैं।

ग्यारहवी शताब्दी में सेनाओं द्वारा तथा अन्य सुरक्षार्थ प्रयोग मे लाये जाने वाले शस्त्रास्त्रो का वर्णन करने के अतिरिक्त कुछ अन्य भी शस्त्रास्त्र थे व्यापक

---

१ विक्रम पञ्चदश सर्ग ६४

२ विक्रम त्रयोदश सर्ग ३३

पैमाने पर जिनका प्रयोग होता था वो ये ही थे। कही–कही पर कवि ने सबका एक साथ वर्णन किया है–

असिना विशिखै सतोमरै सहसा कुञ्जरधावनेन च।
स सहस्रमिवोद्वहन्करान् प्रतिपक्षक्षयदीक्षितोऽभवत्।।[१]

युद्ध की शैली–

युद्ध के समय अपनाये गये तरीको, आक्रमण करने की योजना, सेनापति द्वारा सेना का संचालन, सेना के आक्रमण का क्रम तथा उसका टुकडियो मे आक्रमण करना आदि युद्ध की शैली के अन्तर्गत आने वाले तरीके हैं। हर राजा की अपनी–अपनी युद्ध शैली होती थी। युद्ध करने की विधि प्राय राजा व सेनापति के विचारो के अनुरूप होती थी। सेना का आकार तथा सेना की मात्रा से अधिक महत्वपूर्ण युद्ध की शैली होती थी। इतिहास मे इसके कई साक्ष्य मिलते हैं कि कुशल सेनापतित्व तथा युद्ध की शैली ने अप्रत्याशित परिणाम दिलाया है। विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे इसका स्पष्ट वर्णन मिलता है–

अपारवीरव्रतपारगस्य पराङ्मुखा एव सदा विपक्षा।
अधिज्यचापस्य रणेषु यस्य यश परं सम्मुखमाजगाम्।।[२]

युद्धक्षेत्र मे असीम वीरव्रत मे पारङ्गत, चढी कमान वाले धनुष को धारण करने वाले उस राजा के सामने से शत्रु लोग पराङ्गमुख होते थे किन्तु कीर्ति उसके

---

१ विक्रम. पञ्चदश सर्गः ६४
२ विक्रम. प्रथम. सर्ग. ८५

सम्मुख आती थी।

अन्यच्च–

अवन्ध्यपातानि रणाङ्गणेषु सलीलमाकृष्टधनुर्गुणस्य।
यस्यानमत्कोटितया व्यराज–दस्त्राणिचुम्बन्निव चापदण्ड ।।[1]

युद्ध की नीति–

वे आचार–विचार नियम एव मानदण्ड जिनके अनुसार युद्ध किया जाता था। वे युद्ध नीति के अन्तर्गत आते हैं। प्राचीन काल से ही युद्ध सत्ता की नियामकता, शाश्वतता और राजा एवं राज्य के वैभव का परिचायक रहा है। इन युद्धो के हमेशा अपने कुछ वसूल या सिद्धान्त होते रहे है जिनके अनुसार युद्ध लडे जाते थे। स्थान, देश, काल और परिस्थितियों, के अनुसार युद्ध नीति भी अलग–अलग होती थी। हमेशा युद्ध किसी उद्देश्य विशेष के लिए लडा जाता था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो नीतियॉ बनाई जाती थी और उस पर अमल जिस विधि से होता था, वह युद्ध नीति कहलाती थी।

दक्षिण भारतीय राजाओ मे कल्याणी के चालुक्य पराक्रमी एवं यशस्वी राजा थे। इन्होने अपनी युद्ध नीति मे कही पर शक्तिपूर्वक सैन्य प्रदर्शन तो कही पर कूटनीति से राजनीति पूर्वक राजाओं का समर्थन एव सहयोग प्राप्त किया। वे राजा जिनको सैन्य शक्ति से जीता जा सकता था। उनको आक्रमण करके तथा जिनको अपनी सैन्य शक्ति से नही जीता जा सकता था। उनको कूटनीति एवं बलपूर्वक

---

१. विक्रम प्रथमः सर्गः ७६

बिना युद्ध किये अपने अधिकार मे कर लिया जाता था।

विक्रमाङ्कदेवचरितम् के नायक विक्रमाङ्कदेव के छोटे भाई जयसिंह द्वारा अपनायी गयी कूटनीतियाँ विक्रमाङ्कदेव के विरूद्ध थी इसका वर्णन बिल्हण ने चतुर्दश सर्ग मे किया है–

"द्राविड स नृपति सहायता प्राषयत्यविरतैरूपायनै।
कर्तुमिच्छति न कैरूपक्रमैर्भेदजर्जरमिद भवद्बलम्।।[1]

वह सिंह देव लगातार नजरानो को देकर द्रविड देश के राजा को अपनी सहायता करने मे तैयार कर रहा है। किन–किन उपायों से इस आपकी सेना को भेदनीति से नष्ट–भ्रष्ट कर देना नही चाहता है अर्थात् हर प्रकार से आपकी सेना को नष्ट–भ्रष्ट कर देना चाहता है। बिल्हण अपने महाकाव्य विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे युद्ध नीति का वर्णन करते हुए युद्ध के समय किसको मारना चाहिए ये बताते हैं।

"उत्कन्धरानेव रणाङ्गणेषु यस्यातितुङ्गस्य हठात्प्रहर्तु।
न नम्रभावादपरो नृपाणामासीत्कृपाणप्रतिषेधमार्ग।।"[2]

रणभूमि मे अभिमान से ऊँची गर्दन कर युद्ध के लिए आने वालो को ही चुन–चुन कर मारने वाले उस अत्युन्नत राजपुत्र की तलवार के प्रहार से विपक्षी राजाओ को बचने का उपाय, नम्रता से पराजय स्वीकार कर लेने के अतिरिक्त दूसरा नही था।

---

१ विक्रम चतुर्दशः सर्ग. १२
२ विक्रम तृतीय सर्ग. ६६

सेना–

(सिनोति, षित्र् (बन्धने) + न + टाप् – सेना, बल फौज)– शत्रु को बाध लेने के कारण अथवा सेनापति के साथ विद्यमान रहने के कारण बल को 'सेना' कहा गया। वैदिक वाड्मय मे सेना प्रथमत 'क्षेप्यास्त्र' का द्योतक है जो आशय ऋग्वेद[1] और अथर्ववेद[2] मे मिलता है और उसके बाद 'आक्रमण' अथवा 'सेना को' जो इसका सामान्य अर्थ[3] मे मिलता है। यास्क ने भी सेनापति के साथ विद्यमान रहने के कारण (सेश्वरा समानगतिर्वा) इसे 'सेना' कहा है। इस प्रकार विद्वानो के अनुसार इस शब्द का अर्थ हुआ– क्षेप्यास्त्र। सभवत शत्रु को मारने के लिए सम्पूर्ण सेना आज की भाति लगा दी जाती थी, इसीलिए सेना का अर्थ पहले से ही क्षेप्यास्त्र प्राप्त होता है।

प्राचीन भारत मे राज्य के सप्तागो मे सेना अथवा बल को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था। प्राचीन विद्वानो के अनुसार सेना रहित राज्य अगहीन पुरुष के समान आत्मरक्षा मे असमर्थ होता है। अत देश एव प्रजा की रक्षा हेतु सेना राज्य का एक अत्यन्त अनिवार्य अङ्ग है। चतुरगिनी सेना– राजाओ के आश्रय मे चारो प्रकार की सेना रहती थी जिसे 'चतुरगिनी' सेना कहा जाता था, जिसके अतर्गत पदाति, रथ, अश्व और गजसेना आती थी। वैदिक युग तक चतुरगिनी सेना का विकास नही हुआ था। इस समय केवल द्विअंगिनी सेना का ही वर्णन प्राप्त होता है।

---

१ अथर्व ८/८/७, ११/१०/४
२ ऋग् १/३३/६, ७/२५/१, ६/६६/१, १०/१०३/१
३ ऋग्. १०/१२१/२

सेना के दो अंग पदाति और रथारोही थे। कुछ विद्वानो का मत है कि वैदिक युग मे अश्वारोही सेना भी थी किन्तु अधिकाश विद्वान् इससे असहमत हैं। अश्वारोही सेना का उदय वैदिक युग के पश्चात् हुआ।[1]

जो भी हो विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे चारो प्रकार की सेनाओ का वर्णन मिलता है। इसमे रथ सेना का वर्णन तो विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे नही मिलता किन्तु अभिलेखो तथा तत्कालीन ऐतिहासिक स्रोतो से इसकी जानकारी मिलती है। विक्रमाङ्कदेवचरितम् के चतुर्दशसर्ग मे राजा विक्रमाङ्कदेव (षष्ठ) द्वारा अपने धोखेबाज भाई जयसिंह के विरूद्ध चतुरंगिनी सेना को लेकर कृष्णा नदी के किनारे आकर डटने का वर्णन है। चतुर्दशसर्ग में विक्रमादित्य षष्ठ की विशाल चतुरंगिनी सेना का विस्तार से वर्णन किया गया है।

उस समय की कर्नाटक की सेना का आधार पर्याप्त विस्तृत रहा होगा। वह एक राष्ट्रीय सेना थी, न कि सिर्फ क्षत्रियों की। सेना मे अनेक प्रसिद्ध ब्राह्मण सेनापतियो की उपस्थिति और आवश्यकता पडने पर कारीगरों और व्यापारियों के भी शस्त्र ग्रहण कर लेने के उदाहरण इसी निष्कर्ष की पुष्टि करते हैं। सोमदेव सूरि ने अपने 'यशस्तिलकचम्पू' में सेना का जो विवरण दिया है वह रोचक है।

समय की दृष्टि से वह चालुक्यो के निकट भी है, अतः उसका संक्षिप्त उल्लेख किया जा सकता है। सोमदेव के वर्णन के अनुसार पैदल सेना के सैनिक लाल पगडियॉ पहनते थे। ये ऊपर की ओर पतली होती जाती थी। इस प्रकार वे

---

१ वेदकालीन राज्य व्यवस्था, डॉ० श्यामलाल, पृष्ठ १७६–१७७

एक–श्रृङ्गों की पंक्तियो की भॉति दीखते थे। वे दाढियॉ मुडवा देते थे। वे अपनी ढकी गर्दनो पर विभिन्न रगो के मनको के तिलडे हार पहनते थे। सैनिक सॉप के आकार के लोहे के मणिबन्ध धारण करते थे। उनकी कमर पर छुरा होता था। कमर मे अपने कपडे कसकर बॉधते थे और अनेक प्रकार के अस्त्र–शस्त्र धारण करते थे।

सेना के आगे–आगे चारण उनकी शौर्य की गाथा कहता चलता था और उन्हे कुछ कर दिखाने को उत्साहित करता रहता था। सैनिक के आदर्श उच्च्व थे, जय या मृत्यु। युद्ध से पीठ दिखाने पर कलक का जो टीका लगता था वह कभी मिट नही सकता था।

अभिलेखो मे इस सम्बन्ध मे सस्कृत के दो श्लोक अक्सर मिलते हैं जिनसे इस आदर्श की मान्यता प्रमाणित होती है। इनमे एक श्लोक मे युद्ध मे आगे बढकर मृत्यु का वरण करने वाले सैनिक को योगी कहा गया है। उसे सूर्यमण्डल को भेदकर स्वर्ग मे यश प्राप्त होता है।

दूसरे श्लोक मे शौर्य की प्रशसा मे कहा गया है कि इससे विजयी होने पर यश और मृत्यु की स्थिति मे स्वर्ग के सदस्यो का साथ मिलता है। युद्ध मे मृत्यु की परवाह नही करनी चाहिए, क्योंकि जीवन तो छोटा होता ही है।

युद्ध मे सफलता मिलने पर किस प्रकार की प्रशंसा मिलती थी। इसका एक खास उदाहरण बेल्लारी जिले का एक अभिलेख है जिस पर कोई तिथि नहीं है। इसमे लिखा है कि महामण्डलेश्वर वर्म देवरस पहले लक्ष्मी का पति हुआ, फिर उस देवी का बल्लभ हुआ, "श्री–बधगीशनागि जयलक्ष्मिणे–बल्लभ नागि भारत देविगे नल्ल नागि।" विक्रमाङ्कदेव में वर्णित सैन्य विवरण से तीन प्रकार की सेना की सूचना

हमे प्राप्त होती है। पैदल सेना अश्वारोही सेना तथा हस्ति सेना। सेना के प्रताप से प्रभावित प्राकृतिक सोपानो के वर्णन वाला, अश उद्धृत है—

"तच्चमूपरिकरेण पीडिता कृष्णवेणिरधिगम्य तानवम्।
सिन्धुपार्श्वमिव गन्तुमक्षमा रोषत कलुषतामदर्शयत्।।"[1]

उस सिहदेव की सेना के समूह से अथवा सेना के व्यापार से पीडित कृष्णानदी ने कृशता को प्राप्त होकर समुद्र के पास जाने मे असमर्थ होने के कारण मानो क्रोध से मलिनता को प्रकट किया। अर्थात् अधिक सख्या का मनुष्यो द्वारा अधिक जल खर्च कर दिये जाने से कुछ सूख गई अतएव मटमैली हो गई।

सेना के गुण

साहसी—

सेना मे उन्हीं लोगो को लिया जाता था, जो साहसी, वीर और पराक्रमी होते थे। क्योकि भीरु, डरपोक और क्षीण मनोबल वाले सैनिक युद्ध जैसे साहसपूर्ण कार्यों के सर्वथा अयोग्य समझे जाते थे। कल्याणी के चालुक्य अपनी उत्साही सेना के बल पर ही दक्षिण भारत मे अपना स्वतत्र राज्य स्थापित कर सके थे।

स्वामिभक्त—

सेनाओं को पूर्णतया स्वामिभक्त होना चाहिए। चालुक्य सम्राट, अपनी वफादार सेनाओं के आधार पर ही सर्वत्र अपना विजय अभियान चला सके। एक वफादार

---

१. विक्रम. चतुर्दश सर्ग ५३

सेना किसी भी राज्य/राजा की सबसे बडी शक्ति होती है।

हस्तिसेना–

हस्तिसेना विक्रमादित्य की सेना का प्रमुख अग थी। हाथी जहा पर युद्ध काल मे सर्वाधिक मालवाहक के रूप मे प्रयुक्त थी वही पर प्रमुख सेनापति तथा सम्राट स्वय भी हाथी पर सवार होकर ही सेना के आगे–आगे युद्ध लडता थी। हस्तिसेना के वर्णन वाले कुछ अश–

"पन्नगेश्वरफणासु तद्बल–क्षुण्णरेणुतलिनापि सर्वत ।
आर्द्रता गजमदाम्बुभिर्गता भूमिरित्यधिकमाप गौरवम्।।"[1]

अपि च–

"उन्मदद्विरदहस्तशीकर–श्रेणिभिर्नभसि तस्य दर्शिता।
रेणुहारित पथस्य भास्वतश्चूर्णित. इव रथेन तारका ।।"[2]

अपि च–

"भास्वत करिभयावगाहनाद् वाहनैरिव निपातितोऽरूण ।
कुम्भिकुम्भतट चीन पिष्टत प्राप रेणुविसर क्षमातलम्।।"[3]

अश्वसेना–

जहॉ पर हस्तिसेना भारी वाहन तथा युद्ध में अत्यन्त महत्वपूर्ण थी वहीं पर द्रुतगति से आक्रमण करने तथा एक आक्रामक सैन्य प्रबन्धन के लिए किसी भी

---

१ विक्रम चतुर्दश सर्ग. ६१
२. विक्रम चतुर्दश. सर्गः ६५
३ विक्रम. चतुर्दशः संर्ग· ६८

शक्तिशाली सेना का आवश्यक अग थी। घोडे के सैन्य प्रयोग वाले वर्णन अत्यन्त उत्कृष्ट हैं–

"पस्पृशुर्न पृथिवीं तुरङ्गमा स्पर्धयेव दिननाथवाजिनाम्।
भोगिभर्तुर भवन्मतङ्गज–स्थान एवनितरा परिश्रम।।"[1]

"घोडे सूर्य के घोडो की स्पर्धा से मानो पृथ्वी का स्पर्श भी नही करते थे। शेषनाग को हाथियों को धारण करने मे ही अत्यन्त परिश्रम हुआ। अर्थात् घोडो के कम काल तक पृथ्वी पर रहकर अधिक काल तक आकाश मे चलते रहने से उनका कोई बोझन हुआ।"

युद्ध वाद्य–

सेनाओ का मनोबल बढाने, उन्हे उत्साहित करने, युद्ध की विभिन्न स्थितियो जैसे–आक्रमण, समापन, युद्ध विराम सेनापति के द्वारा नेतृत्व प्रदान करना आदि के लिए युद्ध वाद्यों का प्रयोग किया जाता था। सेनाएँ जब राजमहल से प्रस्थान करती थी तो तुरही वाद्य की आवाज के साथ नगाडे–दुन्दुभि आदि वाद्य बजाये जाते थे। समराङ्गण मे जब दोनो सेनाये आमने–सामने डट जाती थी तो अपनी–अपनी सेना के सतर्क (Attention) हो जाने पर तथा राजा और सेना के तैयार होने का सङ्केत मिलते ही रणभेरी बजायी जाती थी। जो युद्ध प्रारम्भ करने का सङ्केत होती थी और रणभेरी बजते ही रणवीरो की भुजाएँ फडक उठती थी।

कभी–कभी युद्ध के बीच मे ही युद्ध विराम करवाना होता था तो इसकी सूचना समस्त सेना को इन्हीं युद्ध बाद्यो द्वारा ही दी जाती थी।

---

१. विक्रम. चतुर्दशः सर्गः ६४

बिल्हण ने युद्ध–वाद्यो मे नगाडे–दुन्दुभि का प्रयोग किया है–

"न क्षितीन्द्रपटहस्वनोऽभवद् दिक्करिश्रवणपाटने पटु ।
यत्सुदीर्घकररन्ध्रपूरणादल्पता प्रथममाससाद स ।।"[1]

"राजा के नगाडो का शब्द दिग्गजो के कानो को फोड देने मे समर्थ न हो सका क्योकि वह पूर्व मे हाथियो के सूडो के छिद्रो मे प्रविष्ट हो जाने से कम हो गया था।"

"भूपते समभरेण दन्तिना दूरमानमति भूमिमण्डले।
नूनमम्बुदनिनादमेदुर प्राप दुन्दुभिरवश्चिरान्नभः ।।"[2]

विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे वर्णित तुरही के प्रयोग वाला अश उद्धृत है–

"कियतीमपि तीव्रविक्रम समतिक्रम्य वसुन्धरां तत ।
अवलोकयति स्म भूपति प्रसरत्तूर्यरवं द्विषद्बलम् ।।"[3]

इसके अनन्तर प्रबल पराक्रम वाले विक्रमाङ्कदेव राजा ने थोडी दूर पृथ्वी पर आगे बढकर फैलने वाले तुरूही के शब्दो से युक्त शत्रु की सेना को देखा।

दूत–

राजकीय परम्परा में समाचारो का आवापोद्‌याप अन्तःपुर में, एव राजा का संदेश मंत्री के पास, राजा का संदेश सेना के पास तथा इसी तरह के संदेश प्रेषण एवं एक स्थान से सूचना दूसरे स्थान पर पहुँचाना जहाँ पर दूत का आंतरिक कार्य

---

१ विक्रम· चतुर्दशः सर्ग ५६
२. विक्रम. चतुर्दश सर्ग ६०
३. विक्रम पञ्चदश सर्ग २३

था वही पर एक राजा का सदेश दूसरे राजा के लिए राजनीतिक, कूटनीतिक, विचारविमर्श जो एक राज्य से दूसरे राज्य के मध्य चलते रहते थे, उनका माध्यम दूत ही हुआ करता था। यद्यपि दूत राजकीय पदो मे चतुर्थ श्रेणी का कर्मचारी होता था किन्तु दूत के पद पर प्राय वाक्पटु, नीतिमान एव राजभक्त प्रकृति के ही लोग रखे जाते थे। इनकी कार्यकुशलता पर ही राजकीय सबध एव दो राज्यो के मध्य सम्बन्धो का अच्छा बुरा होना निर्भर करता था। ऐतिहासिक एव साहित्यिक स्रोतो मे ऐसे कई अवसर देखने को मिलते है जब दूत की बौद्धिक कुशलता के कारण युद्ध की आसन्न स्थिति टल गयी है।

महाकवि बिल्हण ने विक्रमाङ्कदेव के दूत का रानी के पास सदेश ले जाने का वर्णन किया है–

"श्रोतामृतस्य स्फटिक प्रणाली दिव्याम्बुधारां स्मरचातकस्य ।
वार्तां गृहीत्वा हरिणेक्षणायाश्चर क्षमाभर्तुरथाजगाम्।।"[1]

इस प्रकार चन्देलदेवी के विरह सताप से बहुत पीडित होने पर राजा विक्रमाङ्कदेव का दूत, कर्ण को सुख देने वाले अमृत के बहने के लिए स्फटिक की बनी नाली के रूप तथा कामरूपी चातक के लिए स्वर्गीय जल धारा के स्वरूप, उस मृगनयनी चन्दलदेवी की खबर लेकर आ गया।

---

१ विक्रम नवम सर्ग २५

षष्ठ अध्याय

१. धर्म

२. दर्शन

धर्म

ध्रियते लोकेऽनेन धरति लोक, वा धृ (धारणे) + मन्, संस्कृत तद्भव)– जिस नैतिक, या शुभ कर्म द्वारा जीवन, परिवार, समाज, राष्ट्र धारण किया जाए, वह धर्म कहलाता है। मानव समाज के विकास के साथ धर्म की परिभाषा मे भी सदैव विकास होता रहा है, जिसका प्रयोग ऋग्वेद की ऋचाओ मे विशेषण रूप मे या सज्ञा के रूप मे हुआ है। ऋग्वेद के अधिकतर स्थानो पर यह शब्द वेद–विहित धार्मिक विधियो या धार्मिक सस्कारो के रूप मे ही प्रयुक्त हुआ है।१ अथर्ववेद मे धर्म शब्द का प्रयोग धार्मिक क्रिया–सस्कार करने से अर्जित गुण के अर्थ मे हुआ है।२ ऐतरेय ब्राह्मण में 'धर्म' शब्द सकल धार्मिक कर्त्तव्यो के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।३ छान्दोग्य उपनिषद् में 'धर्म' तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है– १. यज्ञ, अध्ययन एवं दान अर्थात् गृहस्थ धर्म, २. तपस्या अर्थात् तापस् धर्म, ३ ब्रह्मचारित्व अर्थात् आचार्य गृह मे अन्त तक निवास करना।[४]

इस प्रकार वैदिक युग मे 'धर्म' का प्रयोग अनेक अर्थों मे हुआ है, किन्तु धीरे–धीरे बाद में यह मानव के विशेषाधिकारों, कर्त्तव्यों, विधियो का द्योतक, आर्य

---

१ अथर्व १/२२/१८, ५/२६/६, ७/४३/४, ६/६४/१

२ ऋत सत्य तपो राष्ट्र श्रमो धर्मश्च कर्म च। भूत भविष्यदुच्छिच्टे वीर्य लक्ष्मीर्बल बले। अथर्व. ६/६/१७

३ धर्मस्य गोप्ताजनीति तमभ्युकृष्टमेवविदभिषेक्ष्योन्नतयार्चाभिमन्त्रयेत। एत०ब्रा०। ७/१७।

४. त्रयोधर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययन दानमिति, प्रथमस्तय एवेंति द्वितीयो ब्रह्मचर्यायाचार्य कुलवासी तृतीयोऽत्यन्तयात्मानमाचार्य कुलेऽवसादन्। सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसस्थोत्मृतत्वमेति। छान्दो० २/२३

जाति के सदस्य की आचार विधि का बोधक एव वर्णाश्रम का द्योतक हो गया। तैत्तिरीयोपनिषद् में छात्रो के लिए जो 'धर्म' शब्द प्रयुक्त हुआ है वह इसी अर्थ मे है यथा– 'सत्य वद', 'धर्मम् चर'[1] आदि। याज्ञवल्क्य भी इसी अर्थ का समर्थन करता है।[2] मनुस्मृति के अनुसार मुनियो ने मनु से सभी वर्णों को धर्म–शिक्षा देने के लिए प्रार्थना की है।

ग्यारहवीं शताब्दी की धार्मिक अवस्था पर विचार करते समय पहली बात जिसकी ओर हमारा ध्यान जाता है वह यह है कि उस समय धार्मिक सहिष्णुता का वातावरण था। सभी धर्मों के अनुयायी दूसरो के प्रति आदर नही, तो सहनशीलता अवश्य प्रकट करते थे। इन सभी को राजाओ और सरदारो का निष्पक्ष आश्रय प्राप्त था। ब्राह्मण हिन्दू धर्म मे शैव और वैष्णव दो मुख्य सम्प्रदाय थे। अनुयायियो की सङ्ख्या की दृष्टि से शैव–सम्प्रदाय अधिक महत्त्वपूर्ण था। शाक्त सप्रदाय की देवी कोल्लापुर की महालक्ष्मी थी, और कार्तिकेय की पूजा का स्थान इसके बाद आता है। बेल्लारी जिले मे कुडितनि कार्तिकेय की पूजा का मुख्य गढ था। दूसरे धर्मों मे बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म का अधिक प्रचार था। इसके अनुयायियो की सङ्ख्या भी अधिक थी।

लिङ्गायत सम्प्रदाय के रूप मे कलचुर्यों के शासनकाल में शैवों का अतीव पुनरूत्थान हुआ। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक 'बसव' थे। किन्तु इस सम्प्रदाय का इतिहास परस्पर विरोधी प्रमाणों से भरा है। इनकी अनुश्रुतियॉ एक दूसरे का खण्डन

---

१. तैत्ति० उप० १/११

२. वा० रा० ३/८/२६

करती हैं। शैव धर्म के विकास के एक चरण के रूप मे कर्नाटक पर लिङ्गायत सम्प्रदाय के प्रभाव की अपेक्षा कन्नड गद्य साहित्य को इसकी देन का अधिक महत्त्व है। इस दृष्टि से वीर शैवो के साहित्य पर हम बाद मे विचार करेगे। वीर शैव लिङ्गायत संप्रदाय का ही दूसरा नाम है।

यद्यपि विभिन्न सम्प्रदायो मे बराबर शास्त्रार्थ हुआ करता था तथापि धार्मिक क्षेत्र में कितनी शान्ति थी, इसके प्रमाण मे अभिलेखो में आए मङ्गलाचरणो का उल्लेख उचित होगा। "१११६ ई० के कुडितनि अभिलेख" का प्रारम्भ शम्भु, वराह, सुब्रह्ममण्य और विघ्नेश की प्रार्थना से होता है। इसमे एक बगीचे क़े साथ शिव के एक मन्दिर, सरस्वती और विनायक के आयतन और एक सभामण्डप के निर्माण का उल्लेख है। "११४८ ई० के पेद्दतुंबलम अभिलेख" मे शम्भु से पहले गणपति की प्रार्थना है।

११५३ ई० के बागली के एक अभिलेख के मङ्गलाचरण मे ब्रह्म, शिव, गणपति और वराह–विष्णु की प्रार्थना है। इसके अलावा– १०६५–६६ ई० के डबल के अभिलेख मे तारादेवी की प्रार्थना है। यह लेख स्पष्ट ही, पर दबे स्वरों मे, साम्प्रदायिक ही है।

इसी प्रकार ११६० ई० के बागली के सूर्यनारायण के मन्दिर से सम्बद्ध एक लेख मे लक्ष्मीनारायण की प्रार्थना है।

कुरुगोडु के ११७३–७४ ई० के एक अभिलेख में लगातार आठ छन्दों में शिव की प्रार्थना है।

बादामी के बेलूर के १०२२ ई० के एक लेख मे बताया गया है कि जयसिह द्वितीय की बडी बहन अक्का देवी ने जिन, बुद्ध, अनन्त (विष्णु) और रूद्र (शिव) के आगमो मे उल्लिखित सभी धर्म (पुण्य के काम) पूरे किए थे। अन्य अभिलेखो से भी इसके इस दावे की पुष्टि होती है। उसने अरसिबीडी और सूडि मे बहुत से दान दिए थे। उसने अरसिबीडी मे गुडदवेडन्गि[1] मे जिनालय और उसके भिक्षुओ को तथा सूडि मे शिव के एक मन्दिर को दान दिया था।

होसूर के १०२८ ई० के एक अभिलेख मे जैन और वैष्णव प्रार्थनाए है। इसमे एक गावुन्ड द्वारा अपनी पत्नी की स्मृति मे 'परोक्ष विनय' (किसी की स्मृति मे बसदि) के निर्माण का उल्लेख है। दक्षिण भारत के ऐतिहासिक काल मे इस प्रकार की यादगारों का अन्य की अपेक्षा शैवो मे अधिक प्रचार था।

विभिन्न धर्मों के मध्य सहिष्णुता एव सहनशीलता उन राजाओं के कारण न थी जिनके राज्य में नाना धर्मों के अनुयायी बसते थे तथापि राजाओं की इस प्रकार की नीतियो का जनता पर प्रभाव अवश्य पडता था। वस्तुत हिन्दू धर्म एक ऐसा महल है जिसमे कितनी ही हवेलिया है और इसीलिए इसमे अनीश्वरवादियो, बौद्धों और जैनो सभी को साथ–२ रहने की पूरी सभावना बन जाती है। यद्यपि इन धर्मो मे समान रूप से वेदो का और दूसरे रूपो मे भी हिन्दू धर्म का विरोध दिया है। राजा दानो के माध्यम से धर्म के प्रति अपनी रूचि का ही प्रदर्शन नहीं करते थे अपितु इनके माध्यम से वे जन कल्याण के कार्य भी करते थे।

---

१. दक्कन का प्राचीन भारत का इतिहास– जी याजदानी।

दान–

१०६२ ई० मे विक्रमादित्य षष्ठम् ने अनेक 'महादान' किए थे जिनमे एक दान 'विश्वचक्र' का भी था यह सोने का एक चक्र होता था जो सम्पूर्ण विश्व का प्रतीक था। 'महादानो का' यह उल्लेख इस दृष्टि से महत्त्व का है कि इस प्रकार की प्रथा दकन मे हेमाद्रि के 'दान खण्ड' की रचना से पूर्व भी प्रचलित भी। 'दानखण्ड' दानो का सिलसिले वार वर्णन है।

वैदिक धर्म के कर्मकाण्डीय स्वरूप के उल्लेख भी इस महाकाव्य मे प्राप्त होते हैं। वैदिक युग में धर्म के अग समझे जाने वाले यज्ञ, तप, दान आदि का समाज पर प्रभाव बना हुआ था। इससे स्पष्ट है कि परवर्ती नए धार्मिक विचारो के साथ–साथ वैदिक धर्म के प्रति भी आस्था अक्षुण्ण बनी रही जैसाकि इस महाकाव्य मे प्राप्त उल्लेखो से स्पष्ट होता है। वैदिक यज्ञों का महत्त्व भी इस काल मे अक्षुण्ण बना रहा। राजा गण पुत्र प्राप्ति के लिए सम्प्रभु सम्राट बनने के लिए, लौकिक अभ्युदय आदि के लिए यज्ञ करते थे। विक्रमाङ्कदेवचरितम् में यज्ञ का वैसा सागोपाग चित्रण नही मिलता जैसा कि वैदिक वाड्मय अथवा बाद के महाकाव्यो मे प्राप्त होता है। उपमाओ के माध्यम से या अन्य वर्णनो के द्वारा यह स्पष्ट होता है कि अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए राजागण यज्ञो का सहारा लेते थे।[1]

---

१ अष्टा. १/२/३४, ८/२/२२

तीर्थ स्थल–

तीर्यते, अनेन वा (प्लवनतरणयो) तृ + थक्, जल स्थान, पवित्र स्थान, तीर्थयात्रा के उपयुक्त स्थान)– ऋग्वेद मे 'तीर्थ' का प्रयोग पवित्र स्थान के लिए हुआ है। आश्वलायन गृह्यसूत्र (४/६) तैत्तिरीय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण (१/४४) आदि मे तीर्थ का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। विक्रमाङ्कदेवचरितम्म् मे विक्रमादित्य षष्ठ के राज्याभिषेक के समय विभिन्न तीर्थों के जल को अभिषेक के समय अत्यावश्यक सामग्री के रूप मे प्रयोग मे लाये जाने का वर्णन मिलता है। इससे हम यह कह सकते हैं कि शुभ कार्यों मे तीर्थजल अनिवार्य रूप से प्रयोग मे लाया जाता था, और तीर्थ स्थलो का अत्यधिक महत्त्व था।

यज्ञ–

(येति इज्यते अनेन वा अत्र वा, यज् (देवपूजादौ) + नङ् वैदिक तत्सम्, देव निमित्त किया गया धार्मिक कृत्य 'यज्ञ' कहलाता है।)– वैदिक वाङ्मय मे 'यज्ञ' क्रतु, मख अथवा यज्ञ संबधी कृत्य का द्योतक है। बिल्हण के समय मे यज्ञो में सर्वाधिक प्रतिष्ठा अश्वमेध यज्ञ की थी। उनके अनुष्ठान द्वारा राजागण अपनी सार्वभौम सत्ता उद्घोषित करते थे। विक्रमाङ्कदेवचरितम्म् मे अश्वमेध के अतिरिक्त अन्य यज्ञो के होने का भी उल्लेख मिलता है लेकिन इनमे इस यज्ञ की महत्ता, वैभवशालिता एव सचालन–व्यवस्था का विस्तारपूर्वक परिचय मिलता है। पुत्र प्राप्ति हेतु अवश्वमेध यज्ञ तथा अन्य इष्टपूर्ति हेतु अश्वमेध यज्ञ किये जाने का वर्णन विल्हण ने किया है। राजा अहवमल्ल अपनी रानी से कहते है–

किमश्वमेधप्रभृतिक्रियाक्रमै सुतोऽस्ति चेन्नोभयलोकबान्धव ।
ऋण पितृणामपनेतुमक्षमा कथ लभन्ते गृहमेधिन शुभम्।।[1]

यदि इस लोक और परलोक दोनो मे साथ देने वाला पुत्र न हुआ तो अश्वमेध आदि यज्ञो के करने से क्या लाभ है। पितृ ऋण से मुक्त होने मे असमर्थ गृहस्थ लोगो का कैसे कल्याण हो सकता है।

यज्ञवाट या यज्ञशाला:–

विभिन्न यज्ञो को सम्पन्न करने के लिए अलग से भवन का निर्माण कराया जाता था, जिसे यज्ञ शाला कहा जाता था। विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे वर्णित् कल्याणी के चालुक्यवशीय राजाओ द्वारा यज्ञशाला का निर्माण व यज्ञशाला का वर्णन इस महाकाव्य मे अनेक स्थानों पर हुआ है। कभी–कभी यज्ञशालाएं राजमहलों मे या उसके निकट ही कुछ दूरी पर बनाई जाती थी। जहॉ राजागण एव उनकी रानियॉ जाकर अपना नित्य यज्ञ कर्म सम्पन्न करते थे।

यजमान–

यजमान उसे कहते है जो व्यक्ति अपने यज्ञ के लिए पुरोहित या पुराहितो को नियुक्त करता है। शतपथ ब्राह्मण मे 'यजमान' वशानुगत यज्ञ–कर्त्ता के लिए प्रयुक्त हुआ है।[2] विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे (यजमान) का प्रयोग दोनों ही अर्थों में हुआ है– यज्ञ करने वाले तथा जो अपने यज्ञ के लिए पुरोहितों को नियुक्त करता है।

---

१ विक्रम. द्वितीय· सर्ग· ३४

२. संस्कृत अग्रेजी डिक्शनरी– मोनियर विलियम।

'पाणिनि'[1] तथा पतजलि[2] दोनो ने 'यजि क्रिया के मुख्य कर्त्ता' के लिए 'यजमान' का प्रयोग किया है।

अश्वमेध यज्ञ–

(वैदिक तत्सम्, यज्ञ जिसमे अश्व की बलि दी जाती है)– यह यज्ञ तीन दिनो का होता है। महाराज आहवमल्ल पुत्र की इच्छा से अश्वमेध यज्ञ करते है। इसमे– सर्वप्रथम भ्रमण के लिए अश्व छोड दिया जाता है, एक वर्ष भ्रमण करने के पश्चात् अश्व लौट आता है। तत्पश्चात् महाराज आहवमल्ल का यज्ञ प्रारम्भ होता है। यज्ञ विधि के अनुसार अश्व वध के लिए यूप मे बॉध दिया जाता है। उस वध किए हुए घोडे के पास सावधान चित्त होकर आहवमल्ल देव की रानी धर्म की इच्छा से एक रात निवास करती है। जितेन्द्रिय ऋत्विज उस घोडे की चरबी निकालते है और अग्नि मे उसे शास्त्रानुसार पकाते है। राजा आहवमल्लदेव हवन के धूम की गन्ध और हवन की गयी चर्बी की गन्ध समय पर विधानानुसार सूॅघते है जिससे राजा के सब पाप दूर हो जाते है। घोडे के अगो को सोलह ऋत्विज ब्राह्मण यज्ञ में डालकर हवन समपन्न करते है। अन्य यज्ञो मे तो पाकडे (प्लक्षशाखासु) की लकडी पर आहुति दी जाती है किन्तु अश्वमेध मे बेत की (बैतसो) लकडी पर रखकर आहुति दी जाती है। कल्पसूत्र और ब्राह्मण वचनो द्वारा अश्वमेध यज्ञ तीन दिनों का बतलाया गया है। पहले दिन अग्निष्टोम नामक यज्ञ किया जाता है। अश्व मेध यज्ञ समाप्त होने पर ब्राह्मण गण शास्त्रानुसार और भी अनेक यज्ञ जैसे– ज्योतिष्टोम, अग्निष्टोम, अभिजित्, विश्वजित कराते है।

---

१ अष्टा० ३/२, १२६

२ महाभाष्य ३/२/७१, पृ० २२६

इस यज्ञ मे इक्कीस् (२१) यूप गाडे जाते थे। इस यूप मे अनेकानेक पशु बॉधे जाते थे और उनकी बलि दी जाती थी। अन्त मे अनेक विधियो के अनुसार उसमे ब्रह्मघोष होता था तथा अश्व की बलि करके उसके रक्त और मास को पकाकर आहुति दी जाती थी।

ऐतरेय ब्राह्मण मे अश्वमेध यज्ञ से साम्राज्य, भोज, स्वराज्य, परमेष्ठ्य आदि समस्त ऐश्वर्यों की प्राप्ति बताया गया है।

यज्ञ के पश्चात् दान–

कल्याणी के चालुक्य वश मे 'दान' को एक पुण्यशाली धार्मिक कृत्य के रूप में मान्यता प्राप्त थी। दान का क्षेत्र बडा ही व्यापक था और प्राय. यह अनिवार्य कर्म बन गया था। प्रत्येक सामाजिक, राजनीतिक शुभ कार्य के पश्चात् दान देने की प्रथा तो समाज मे प्रचलित थी, किन्तु धार्मिक कृत्यो (यज्ञो) के अनन्तर दान करना धर्म का ही एक अग बन गया था। यज्ञार्थ के पश्चात् जब तक राजा लोग ऋत्विजो को दानादि नही देते थे, तब तक उनका यज्ञ पूर्ण एव सफल नहीं समझा जाता था। अत एव कुलोन्नति के इच्छुक महाराज आहवमल्लदेव तथा अन्य चालुक्यवशीय राजा गण यज्ञ कर्म सम्पादित करने वाले ऋत्विज् को सब प्रकार से दान देते थे।

गो–दान–

दान की साम्रगी मे अन्न, वस्त्र, धन तथा भूमि आदि के साथ धार्मिक दृष्टि से गोदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। यज्ञ की दक्षिणा मे सहस्रों गायो को दान दे देना साधारण सी बात मानी जाती थी। यज्ञ के अतिरिक्त अन्य अवसरों पर

भी गोदान शुभ कर्म माना जाता था। विक्रमाङ्कदेवचरितम् में सोमेश्वर विक्रमाङ्कदेव तथा इनके पूर्वजो द्वारा अनेक स्थानो पर गो–दानो का वर्णन मिलता है।

बलि कर्म–

(बलनम्/बल (दाने) + इन, वैदिक तत्सम्)– ग्यारहवी शताब्दी मे उत्तर भारत से लेकर दक्षिण भारत पर्यन्त न्यूनाधिक मात्रा मे बलिकर्म मे विश्वास प्रचलित था। अश्वमेध यज्ञ मे तो 'अश्व बलि'[1] ही प्रधान कृत्य होता था तथा इसी प्रकार तात्कालिक अन्य यज्ञो मे वैदिक युग के समान पर्याप्त मात्रा मे पशु बलि दी जाती थी। पशु बलि के अतिरिक्त 'आत्मबलि' देने के भी प्रसग प्राप्त होते है।

तप–

(तपति, तप + अच्, जलाने वाला, तपाने वाला, कष्टकर)– मानसिक विकारो को जलाने हेतु जो साधना की जाती है उसे तप कहते है। यह साधना शारीरिक, ऐन्द्रिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक हो सकती है। प्रत्येक साधना मे इन्द्रियो को नियत्रित किया जाता है, अत एव शरीर या इद्रियो को जलाना तप का स्थूल या व्यक्ति लक्षण हो जाता है। उच्चता या महानता के दृष्टिकोण से यदि तप के भिन्न–भिन्न सोपानो पर विचार किया जाय तो हम कह सकते है कि जिस प्रकार शरीर इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आत्मा, क्रमश· उच्चतर और उच्चतम् होते जाते है उसी प्रकार शारीरिक तप से इन्द्रिय से मानसिक, मानसिक से बौद्धिक और आध्यात्मिक तप क्रमशः उच्चतर और उच्चतम् होते है।

---

१. विक्रम. द्वितीय सर्ग· ३४

वैदिक वाड्मय[1] मे 'तप' जलाने वाला, तपाने वाला आदि अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है। उपनिषदो मे तप का यही अर्थ है।[2]

अभिलेखो मे तप को 'परम–गति' कहा गया है। तप मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति के साधक थे। तप द्वारा ज्ञान प्राप्तकर मनुष्य परम्धाम (ब्रह्मलोक) को प्राप्त कर सकता है, इसीलिए तप 'परम्' को प्राप्त कराने वाली श्रेष्ठगति कही गई है। अत एव यदि जीवन तपोमय नही है तो वह निरर्थक है। तप दो प्रकार के थे तप–साधारण या छोटे–छोटे तपो को 'तप' कहते थे।

महातप–

बडे–बडे तप को 'महातप' कहते थे। ये कई वर्षों तक चलते थें। और कष्टमय साधना के अनुसार पूर्ण होते थे इस तप को पूर्ण करने मे मनुष्य को अनेकानेक कठिनाइयों का सामना करना पडता था। विक्रमाङ्कदेवचरितम् के द्वितीय सर्ग मे राजा आहवमल्लदेव द्वारा पुत्र प्राप्ति हेतु कठोर तप करने का वर्णन किया गया है। पुत्र प्राप्ति हेतु न केवल आहवमल्लदेव द्वारा अपितु आहवमल्लदेव की रानी के द्वारा भी महातप मे कष्टसाधना का वर्णन विल्हण ने किया है।

तपस्वी:–

(तपोऽस्यास्ति। तपस् (सहस्त्राभ्याम्) + विनि, वैदिक तत्सम तपस्वी, तपनिष्ठ)– वैदिक वाडमय मे 'तपस्विन्' तपस्वी या दण्डनीय का द्योतक है।[3] तपस्वी

---

१ तैत्ति० उप० १/६

२ ऋग्० १७/१०४/१५, ३, अथर्व० ७/८/२, ऐत०, ब्रा० ७/१७, शत् ब्रा० १६

३. अथर्व० १३/२/५, तैत्ति० रा० ५/३/३/४

के पास कुछ भी धनादि नही होता वह सर्वथा अकिचन होता है अत एव तपस्वी के इस अर्थ (दयनीय, निर्धन) का विकास हुआ। विक्रमाङ्कदेवचरितम् में तपस्वियो के उस स्वरूप का चित्रण तो नही मिलता जैसा कि प्राचीन ग्रथो मे वर्णित है। किन्तु तपस्या करने के कारण आहवमल्लदेव प्रभृत राजाओ को तपस्वी कहा जा सकता है। इस महाकाव्य मे ऐसे तपस्वियो का कई स्थानो पर वर्णन मिलता है।

पूजा विधि–

प्रस्तुत ग्रन्थ मे– पूजा कैसे की जाती थी या आराधना तथा देवो का आवाहन कैसे किया जाता था, इसका स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता है लेकिन अभिलेखों के अध्ययन से इस पर प्रकाश डाला जा सकता है। तत्कालीन समय मे मदिरो मे गधानुलेप के लिए तथा पचामृतस्नान के लिए दान देने का वर्णन मिलता है। देवालयो मे पंचामृत का प्रयोग पूजा पाठ के लिए किया जाता था। पचामृत तो एक प्रकार से फलो का रस मिश्रित सलाद है जो यदि सम्यक्रूपेण तैयार किया जाए तो कई दिनो तक विनष्ट नही होता है। इस पचामृत से देवताओ का स्नान कराकर इसको सभी भक्तो मे प्रसाद के रूप मे वितरित कर दिया जाता था। इसके वितरण के समय भक्तो की जाति का ध्यान नही रखा जाता था।[1]

दर्शन–

शैव मत–

शिव से सम्बद्ध धर्म को "शैव" कहा जाता है। इसमे शिव को इष्ट देव

---

१. दक्कन का प्राचीन भारत का इतिहास– जी याजदानी

मानकर उनकी उपासना किए जाने का विधान है। शिव के उपासक अर्थात् शैव मतानुयायियो के अनुसार शिव अपने भक्तो के प्रति अत्यन्त उपकारी हैं इसीलिए उन्हे शिव की सज्ञा से विभूषित किया गया।

विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे वर्णित समाज और तत्कालीन समय मे शैव मत ही प्रमुख था। राजपरिवार के लोग प्राय श्री शैल के मन्दिर मे जाते थे और राजा भी यहॉ दर्शन के लिए आते थे। वागवाडी के एक अभिलेख मे जिस पर कोई तिथि अकित नहीं है सोमेश्वर प्रथम की पत्नी मैलल देवी द्वारा 'लक्षहोम' के अवसर पर पाशुपत ज्ञान राशि को दान देने का उल्लेख है। वस्तुत· अभिलेखो मे पाशुपत आगम और इसके सन्यासियो के अनेक दलो का प्रमुख रूप से उल्लेख हुआ है।

पाशुपतों को कालामुख भी कहते थे। 'बल्लि गावे' में उनका प्रमुख केन्द्र था। बतलाया गया है कि यह केन्द्र बौद्धो, मीमांसक, लोकायत, साड्ख्य, अद्वैत और अन्य प्रतिद्वंद्वी आगमो के खडन का अगुवा था।

१०३५ ई० के एक अभिलेख से यह पता चलता है कि इस स्थान के अध्यापक निरतर शास्त्रार्थ में लगे रहते थे। इस अभिलेख के अत में एक छन्द आया है जिसमे महादेव और वेदो की श्रेष्ठता के विरोधियो को चुनौती दी गई है।

शाक्त–मत–

शक्ति को इष्ट देवी मानकर पूजा करने वालो को शाक्त कहा जाता है इसमे दुर्गा को आदि शक्ति स्वीकार कर उन्हे सृष्टिकर्त्री, पालनकर्त्री तथा संहारकर्त्री के रूप मे मान्यता प्रदान की गई है।

'शाक्त' पाशुपतो के निकट थे। इस सप्रदाय का कोल्लापुर महालक्ष्मी और अन्य देवियो की पूजा से घनिष्ट सबध था। १०४६ ई० के एक लेख मे महालक्ष्मी की विशद प्रशस्ति है जिसमे उसके ७० 'तीर्थ' बतलाए गए हैं, इनमे श्री शैल को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। कहा है कि सिह पर आरूढ इस देवी की ब्रह्म भी आराधना करते थे। प्रभु मारसिह का एक पूर्वज प्रभुराज वर्मन इसी देवी का आराधक था। 'पाशुपताचार्य' इस देवी के पुजारी थे। लोक मे अन्य देवियो की उपासना का क्या स्थान था इस सबंध मे कुछ अभिलेखीय उदाहरण प्रस्तुत है– १०७६ ई० के एक लेख मे 'निडुगडि' गॉव की 'ग्रामाधिदैवम्' भगवती को एक शाश्वत दीप चढाया गया था।

११४७ ई० मे मल्लवल्लि मे वहॉ के कतिपय गावुडो ने भगवती और सप्तमातृकाओ की प्रतिष्ठा कराई थी।

१०६६ ई० के कुडितनि के एक अभिलेख मे भी भगवती का उल्लेख है।

यद्यपि कई स्थलो पर कार्तिकेय या सुब्रह्मष्य के मदिरों का उल्लेख अभिलेखो मे आया है तथापि इस काल मे बेल्लारी मे कुडितनि का कार्तिकेय का मदिर सबसे प्रसिद्ध था।

१०६६ ई० के एक लेख मे इसी स्थान का नाम ''स्वामिदेवरपट्टण'' दिया गया है। 'स्वामिदेव' कार्तिदेय का ही दूसरा नाम है। चालुक्य वंश काफी प्राचीन समय से कार्तिकेय की कृपा का दावा करता था। एक प्रसिद्ध कार्तिकेय–तपोवन भी था जिसके 'नैष्ठिक आचार्य' होते थे। इस मदिर मे इस सम्प्रदाय के लोगो ने प्रभूत दान दिये थे। इन आचार्यों के सिलसिले मे कोट्टिदोणे के पचवर्गों का भी उल्लेख

अक्सर आया है किन्तु इस शब्द का अर्थ स्पष्ट नही है।

कुडितनि के 'तपोवन' का ६७६ ई० के एक अभिलेख मे भी उल्लेख आया है। इससे पहले राष्ट्रकूट अभिलेखो से पता चलता है कि वरेन्द्री (पू० बगाल) से गदाधर नामक एक विद्वान आया था और वह कुडितनि से करीब २० मील दूर कोलेगल के कार्तिकेय तपोवन का प्रधान बना था।

यह प्रमाणित है कि गदाधर ने कुडितनि मे कार्तिकेय की एक मूर्ति भी स्थापित की थी। इस प्रकार ये दोनो 'तपोवन' एक ही समय मे थे और इनका मूल एक ही हो सकता है।

वैष्णवमत–

वैष्णव दर्शन का विकास भागवत धर्म से हुआ है। इसमे ईश्वर भक्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने पर बल दिया गया है। वैष्णवो का मानना है कि भक्ति के द्वारा ईश्वर प्रसन्न होता है तथा वह भक्त को अपने शरण मे लेकर उसको उसके समस्त पापो से मुक्त कर देता है।

त्रैपुरुष और द्वादश नारायण के गडग के मदिर (१०३७ ई०) का उल्लेख मिलता है। १०४६ ई मे ब्राह्मण जक्किमप्य ने पोबुल्च (धारवाड के गडग तालुक मे होबल) के विष्णु मदिर का जीर्णोद्धार करवाया था। इस मंदिर का निर्माण उसके पूर्वजो ने ही कराया था। जीर्णोद्धार के समय जक्किमप्य ने मदिर के साथ एक 'सत्र' की भी स्थापना की। १०६० ई० मे सेनापति रविदेव की पत्नी रब्बलदेवी ने हूविन हडगल्लि मे केशव का मदिर बनवाया था। यह इस सम्प्रदाय के इतिहास में

एक महत्त्वपूर्ण घटना थी।

बेल्लारी मे मैलर से एक बडे महत्त्व का अभिलेख मिला है। इसमे वहॉ के २०० वैष्णव 'महाजनो' को एक 'शिवालय' का प्रबन्ध सौंपा गया है। (१०४० ई०)

नागवावि का मधुसूदन का मदिर एक बहुत बडा वैष्णव केन्द्र था। एक अभिलेख से विदित होता है कि मदिर के दो देहारियो (पुजारियो) के लिए ४८ 'मत्तर' भूमि अलग दान मे मिली थी। शर्त केवल यह थी कि पुजारी ब्रह्मचर्य का पालन करेगे, सिर्फ रात मे भोजन (नक्त भोजन) और भूमि–शयन (अध शयन) करेगे।

विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे वैष्णव सम्प्रदाय या वैष्णव विचारधारा का प्रत्यक्ष उल्लेख तो नही मिलता किन्तु उपमाओ के माध्यम से तथा अन्य वर्णनो के माध्यम से विष्णु का एव उनके दशावतारो[1] के अतर्गत वराह इत्यादि रूपो का वर्णन प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट है कि वैष्णव धर्म के अनुयायी समाज में कम थे। शैव मत मे ही लोगो का विश्वास अधिक था। ऐसी स्थिति मे भी भगवान् विष्णु के मदिर, विष्णु के विभिन्न अवतार तथा तत्सबधित अनेक शब्दो का विक्रमाङ्कदेवचरितम् में कई बार प्रयोग देखने को मिलता है। भगवान् विष्णु के मन्दिरो का बिल्हणकृत वर्णन अत्यन्त आकर्षक है–

नभोङ्गणव्यापिनमुष्णदिधितेर्गुणद्वय य परिहृत्य गच्छतः।
न लङ्घन शार्ङ्गभृत कृते भवेत् तुरङ्गमाला च न भङ्गमश्नुते।।[2]

---

१ विक्रम. २/३४
२ विक्रम १७/१६

उस समय न केवल विष्णु की पूजा होती थी अपितु उनके विभिन्न अवतारो के प्रति भी जनमानस मे श्रद्धा थी क्योकि बिल्हण ने विष्णु के विभिन्न अवतारो का सुन्दर वर्णन किया है।

अय स कण्ठीरवतामुपागमद्, विपाटनर्थं दनुजेन्द्रवक्षस।
इतीव भीत कमलापते स्थिति, न यत्र धत्ते कलिकालकुञ्जर।।[1]

कलियुग रूपी हाथी, दैत्यो के राजा हिरण्यकशिपु के कलेजे को फाड डालने के लिए यह प्रसिद्ध विष्णु सिह बनकर अर्थात् नृसिह अवतार लेकर इस पृथवी पर आया था, ऐसा विचार कर मानो लक्ष्मीपति विष्णु या लक्ष्मी के स्वामी विक्रमाङ्कदेव से डरकर उसके राज्य मे वास नही करता है।

भगवान् विष्णु को आराध्य देव के रूप मे पूजना तथा उनका नख–शिख वर्णन सम्भवतः यही दर्शाता है कि जनता मे वे लोकप्रिय देवों की कोटि मे आते थे।

"अवैमिनारायणनाभिपङ्कजं न लभ्यते यत्र मधुव्रतोत्करै।
दिवानिश येन विनिस्सरन्ति ते, निभेन कालागुरूधूमसम्प्रदाम।।"[2]

विष्णुमदिर मे भ्रमरो के समूह विष्णु भगवान् के नाभि के कमल को नही प्राप्त करते है, इस कारण से वे भ्रमर कस्तूरी और अगर के धुए के समूह के मिष से रात दिन मदिर मे से निकलते रहते हैं ऐसा मैं समझता हूँ अर्थात् विष्णु मन्दिर मे चौबीसो घण्टे धूप जला करता था।

सामान्य जन मे वैष्णव धर्म का तो प्रचार था ही, साथ ही साथ राजाओं का

---

१. विक्रम १७/१७

२ विक्रम १७/१८

सरक्षण भी इसे प्राप्त था। राजा अनन्त के विषय मे परम वैष्णव होने का उल्लेख बिल्हण ने किया है इसका अर्थ है कि राजाओ का प्रश्रय भी प्राप्त था।

श्रोणीबन्धे कुवलयदृशां द्रागवज्ञारसज्ञ,
पार्श्वद्वन्द्वेऽप्यतनुत सभामण्डन पण्डितालीम्।
रत्नच्छायाच्छुरणसुभगस्वर्णपत्रावमानी
मानी मेने श्रवसि च कथा वैष्णवी भूषण य।।[1]

कमलनयनी कामिनियो के नितम्बस्थल मे शीघ्रता से उपेक्षा बुद्धि रखने वाला क्षितिपति अपने दोनो ही ओर पण्डितो के बैठने का स्थान देकर दरबार की शोभा बढाता था। रत्नो की चमक से सुन्दर सोने के कर्णाभूषणो का आदर न करने वाला, वह विष्णु सम्बन्धिनी कथा को ही कालो का आभूषण समझता था अर्थात् वह (राजा अनन्त) परम वैष्णव था।

जैनमत और बौद्धमतः—

जैन दर्शन का विकास छठी शताब्दी ईसा पूर्व के आस–पास हुआ। यद्यपि इस मत के प्रवर्तक चौबीस तीर्थंकर थे तथापि इसको पुष्पित एव पल्लवित करने का श्रेय अतिम तीर्थकर महावीर को जाता है। यह ईश्वर मे विश्वास नही करता है अत एव इसे नास्तिक दर्शन कहा जाता है। आत्मा मे आस्था रखने के कारण यह आत्मवादी है। इसके अतिरिक्त यह जड की सत्ता को सत्य मानता है। जैन दर्शन का योगदान प्रमाण शास्त्र एवं तर्क शास्त्र मे अद्वितीय है।

---

१ विक्रम १८/५०

बौद्ध दर्शनः—

इस दर्शन के प्रणेता महात्मा बुद्ध माने जाते है। इस दर्शन का मूल उसके चार आर्य सत्य हैं। जिसमें दु ख और उसके कारणो तथा उनको दूर करने के उपायो का विवेचन किया गया है। एक ओर जहाँ यह क्षणिकवाद का सर्मथन करता है वही दूसरी ओर आत्मवाद का विरोध कर अनात्मवाद की प्रतिष्ठा करता है। प्रतीत्यसमुत्पाद (कार्यकारण सिद्धात) इसका मूल आधार है। ईश्वर विरोधी होने के कारण अनीश्वरवाद की उपाधि से गेय है।

कतिपय महत्त्व की जैन और बौद्ध सस्थाओ का उल्लेख कर हम धार्मिक अवस्था की रूपरेखा समाप्त करेगे। जैन अभिलेखो मे कुछ तो बहुत बडे है। इनमे विभिन्न 'अन्वयों' और 'गच्छों' के आचार्यों के बारे मे मनोरञ्जक विवरण आए हैं। जैनमत के इतिहास में धल्ल की पुत्रवधू और नागदेव की पत्नी अत्तिमब्बे का नाम बहुत प्रसिद्ध है। वह 'दान–चितामणि' के रूप मे प्रसिद्ध थी। अपने पुण्य से वह चमत्कार दिखा सकती थी। उसने अनेक बसदियों का निर्माण कराया था। 'लोक्किगुडि' मे उसने एक बहुत बडी बसदि का निर्माण कराया था जिसके लिए सम्राट ने सोने का 'कलश' प्रदान किया था। इन सभी कार्यों का लेखो में बडे विस्तार से वर्णन आया है। अभिलेखो मे जैन सम्प्रदाय के श्रेष्ठ जनो का 'सागारसुमार्ग–निरतार' अर्थात् सुमार्ग पर चलने वाले गृहस्थो के रूप में उल्लेख आया है। चोल सेना ने कुछ समय तक चालुक्य राज्य मे अतीव उपद्रव मचाया था। उनका क्रोध विशेषकर जैन–मदिरो पर प्रकट हुआ था। १०७१ ई० मे गवरवाड अभिलेख से प्रकट है कि युद्ध मे उनकी अपार क्षति हुई थी और उनकी मरम्मत आवश्यक हो गई थी।

बेलगावे और डबल सम्भवत बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध केन्द्र थे। बेलगाव मे दण्डनायक रूपभट्टय और अन्य पदाधिकारियो ने १०८५ ई० मे जयति बुद्ध विहार का निर्माण कराया था और तारा भगवती केशव लोकेश्वर, बुद्ध और अन्य देवताओ की पूजा के लिए दान दिए थे।

इससे यही सिद्ध होता है कि महायान सम्प्रदाय के रूप से दकन सुपरिचित था

ध्यान देने की बात यह है कि इन प्रतिष्ठानो और दानों पर सम्राट की स्वीकृति थी (परमेश्वर दत्ति)। इसी लेख मे एक, पञ्चमठ का भी उल्लेख है।

इसके दो साल बाद १०६७ ई० मे इन्ही संस्थाओ को नाड–पेर्ग्गडे सहवासि हपचट्ट की पत्नी ने दान दिया था।

१०६५–६६ ई० के एक लेख से पता चलता है कि डंबल मे एक बौद्ध विहार था जिसका सोलह सेट्टियो ने निर्माण कराया था, वे उसकी प्रबन्ध समिति के सदस्य थे। 'सेट्टि' सङ्गवय्य ने आर्य तारादेवी का एक विशाल विहार बनवाया था। यह सेट्टि सगवय्य लोक्किगुडि का 'बड्ड–व्यवहारी' था।

बौद्ध धर्म की शिक्षाए तथा उसके उपदेश लोगो मे समादर प्राप्त थे। विक्रमाङ्कदेवचरितम् मे बिल्हण ने बौद्ध धर्म की शिक्षाओ के अनुपालन में प्रवृत्त रानी तथा अन्यो को भी अनुकरण की प्रेरणा दी है। बौद्ध दर्शन के प्रमुख सिद्धांत अनात्मवाद की भी यहॉ पर व्याख्या दी गई है।

नून स्मर सौगतदर्शनोत्थ रहस्यमस्या कथयाम्बभूव।
त्वया विना व्यर्थमनोरथा यदात्मन्यवज्ञा प्रकटीकरोति।।[१]

कामदेव ने निश्चयपूर्वक चन्दलदेवी को बौद्ध दर्शन के रहस्य का अर्थात् ससारादि सब अनित्य तथा आत्मा नही है, ऐसा उपदेश दिया होगा क्योकि तुम्हारे न मिलने से भग्न अभिलाषावाली वह चन्दलदेवी अपनी आत्मा की अवहेलना करती है। बौद्ध दर्शन मे आत्मा को कोई महत्त्व नही दिया गया है।

---

१ विक्रम नवमः सर्ग. ३१

सप्तम अध्याय

२. शिक्षा– पाठशाला

३. कला

४. स्थापत्यकला

५. वास्तुकला एवं प्रतिमाएँ

६. जड़ाई की कला

शिक्षा एवं कला

शिक्षा–

प्राचीन भारत शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था। समय–समय पर अनेक विद्वान् बाहर से इस देश मे आकर उच्च ज्ञान द्वारा अपने को लाभान्वित करते रहे हैं। वैदिक युग मे इस देश मे शिक्षा का व्यापक प्रचार हो गया था। उपनयन सस्कार हो जाने के पश्चात् बालक गुरू के आश्रम मे जाकर निवास करता था और वही 'शिष्य–वृत्ति' करता हुआ गुरू से शिक्षा प्राप्त करता था।

ग्यारहवी शताब्दी मे विद्याध्ययन पर ब्राह्मणो का ही एकाधिकार न होकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सभी शिक्षा प्राप्त करने के अधिकारी थे और प्रत्येक को प्रारम्भिक बौद्धिक एवं धार्मिक शिक्षा सामान्य रूप में मिलती थी। इसके आधार पर हम कह सकते हैं कि तात्कालिक समाज पर्याप्त रूप से शिक्षित था।

पाठशाला–

समाज मे आम शिक्षा, प्राथमिक और उच्चतर के लिए पाठशालाए थी। प्राय हर गॉव मे अक्षरारभ का प्रबध था। हम यह मान सकते है कि यदि सभी गावो मे नही तो कम से कम अधिकाश गावो मे अवश्य ही 'अक्खरिग–वृत्ति' अर्थात् स्कूल मास्टर के लिए माफी जमीन रखने की प्रथा प्रचलित थी। अभिलेखो में आमतौर पर मदिरों मे जन साधारण के लाभार्थ 'पुराणों' के पाठ का अक्सर उल्लेख आया है। पुराण से वास्तव मे 'रामायण', 'महाभारत' और 'पुराणों' सबका सम्मिलित बोध होता था। इस प्रकार के दृष्टांत अभिलेखो मे मिलते है, तथा इससे सम्बद्ध कुछ और

दृष्टांत भी दिए जा सकते हैं।

१०८५ ई० के नागै के एक अभिलेख मे ४० 'मत्तर' भूमि 'पुराण–भट्ट' के लिए दी गई थी, जिसका काम देवता के सामने मदिर मे और 'मठ' में पुराणों का पाठ करना था। ११०३ ई० मे बागकी के कल्लेश्वर मदिर मे 'पुराण' के लिए एक 'पण' प्रतिमास की छोटी रकम रखी गई थी। चार साल बाद इसमें वृद्धि हुई। फिर 'पुराण' के पाठक ईश्वर भट्टोपाध्याय को ६० 'कम्भ' बगीचे की जमीन दान मे मिली।

११२६ ई० मे उन्हे एक मकान भी दान मे मिला बागली मे ६ 'होन्तुस' का एक दान 'पुराण' के ही पाठक को मिला था जिसकी तिथि नहीं दी गई है। इसमे चेन्नकेश्वर मदिर मे 'ऐद्र' सूक्त का पाठ करने वाले को ४ 'होन्नस' की भी व्यवस्था थी। १११२ ई० में सिदिगे 'महाग्रहार' मे पुराण के पाठक को 'भट्टवृत्ति' के रूप मे भूमि और मकानो को बनवाने के लिए जगह दी गई थी।

११२६ ई० मे जब तर्दवाडि पर हैम्माडि कलचुर्य का शासन था तो इग्लेश्वर मे पुराण खडिक को एक दान दिया गया था। उच्च शिक्षा का माध्यम प्राय. सस्कृत था और विषय थे वेद दर्शन, व्याकरण। इनके लिए अलग से विद्यालय थे। प्राय. समूचे देश मे ऐसे अभिलेख मिले जिनसे इस बात का अच्छा ज्ञान हो जाता है कि इन विद्यालयो का पोषण किस प्रकार होता था और इन्हे अपने उद्देश्य मे कितनी सफलता मिली थी।

इनमे से कुछ चुने हुए अभिलेखो का उल्लेख हम कर सकते है। 'विद्यादान' के बारे मे जो गोलमोल कथन है, जिनका कोई ब्यौरा नहीं दिया गया है उनका

हवाला देना बेकार है। इनमे से कुछ दृष्टातो का, जैसे उम्मचिगे में शिक्षा की व्यवस्था का उल्लेख हमे अभिलेखो से प्राप्त होता है।

१०५८ ई० मे मधुसूदन के मदिर मे मधुव ने जिस 'घटिका' (कालेज) (इसे शाले भी कहते थे) की स्थापना की थी उसमे 'वेद' के २०० विद्यार्थियो, शास्त्रो के ५० विद्यार्थियो, 'शास्त्रो' के तीन अध्यापको (मीमासा के), एक 'भाट्टसम्प्रदाय' के लिए, दूसरा 'न्याय' सम्प्रदाय के लिए और तीसरा 'प्रभाकर' सम्प्रदाय के लिए, 'वेदो के' तीन अध्यापक एक ग्रथालयाध्यक्ष कुछ २५७ व्यक्तियो की व्यवस्था की। अक्षय दान की आमदनी से इन सबके भोजन और वस्त्र का प्रबन्ध किया गया था। अध्यापको मे ३५ 'मत्तर' भूमि 'भट्ट दर्शन' के अध्यापक के लिए ३० 'मत्तर' न्याय दर्शन के अध्यापक के लिए और ४५ 'मत्तर' प्रभाकर दर्शन के अध्यापक के लिए ग्रन्थालयाध्यक्ष और टाइमकीपर मे हर एक के लिए ३०–३० 'मत्तर' भूमि वेतन के रूप मे अलग रखी गयी थी। 'वेद' के अध्यापक के वेतन के बारे मे कुछ भी नही कहा गया था। यह सम्भवत ४०० ब्राह्मणो मे उसे 'ब्रह्मलोक' ही समझिए के लगान से मिलता रहा होगा। मधुसूदन ने इस दान के साथ वह गॉव भी बसाया और अक्षयदान दिये थे।

११०७ ई० मे बेल्लारी जिले के 'चिन्न तुबलम' गॉव में रानी मलयवती ने उसे जो गॉव की शासिका (आलके) थी उसके राजस्व (सिद्यायद पोन्) में से नीचे लिखे दान दिए।

देश भर मे 'ब्रह्मपुरियॉ' स्थापित थीं। उन्होने सस्कृत ज्ञान के विधिवत् प्रचार के लिए सेवा की। इन ब्राह्मणो के ज्ञान, चरित्र और आयुधों के लाघव के बारे में

सामान्य प्रशसा के पर्याप्त प्रमाण अभिलेखो मे मिलते हैं।

१०२४ ई० के मरोल के अभिलेख मे जैन अध्यापक अनतवीर्य मुनि की प्रशसा मे कहा गया है कि वह व्याकरण, निघण्टु गणित, वात्स्यायन, ज्योतिष, 'शकुन', छदस 'मनु धनाधर्व' अलङ्कार, महाकाव्य, नाटक, आध्यात्मिक, अर्थशास्त्र, सिद्धांत और प्रमाणो का पण्डित था। यह सूची काफी बडी है। इससे पता चलता है कि कोई अध्यवसायी उस काल मे किन–किन विषयो और पुस्तको का ज्ञान प्राप्त कर सकता था।

११४१ ई० के बेल्लारी जिले के सिदिगेरे के एक अभिलेख मे कालामुख के आचार्य की प्रशंसा मे कहा गया है कि वह व्याकरण, तर्क, सिद्धात, काव्य, नाटक, नाटिका, वेदाभिधन, अलङ्कार, प्रतिश्रूति, पुराण, इतिहास, मीमांसा, 'नीतिशास्त्र' और अन्य शास्त्रो का पडित था। वह शास्त्रार्थ के लिए सदा प्रस्तुत रहता था। उसने कालामुख सम्प्रदाय को पुन प्रतिष्ठित किया था। सस्कृत मे उसकी वाणी धारा प्रवाह निकलती थी।

शिक्षा और शिक्षण सस्थाओ और ज्ञान के प्रसार के इस संक्षिप्त सर्वेक्षण से एक बात जाहिए होती है कि यद्यपि उच्च शिक्षा तो आज की भांति तब भी कुछ खास–साख केन्द्रो मे सीमित थी, क्योकि इसके लिए सर्वत्र साधन उपलबध न थे, तथापि इस प्रकार के ज्ञान का जो रस था वह सर्वत्र फैला था। ऊँचे से ऊँचा विद्वान्, और अति प्रबुद्ध और परिष्कृत बुद्धिजीवी गॉवों मे जाकर रहता था और वहॉ वह अपने–अपने आस–पास के लोगो के जीवन का मार्गदर्शन करता था। शिक्षा सभी रूपो मे सामाजिक जीवन और सस्थाओ से जुडी हुई थी। आज की अपेक्षा वह

समाज के लिए स्थाई और स्पष्ट ही लाभप्रद थी।

अभिलेखो अथवा साहित्य मे राजकुमारो की शिक्षा–दीक्षा के बारे मे कोई सूचना नही है। 'याज्ञबल्क्य स्मृति' मे प्राचीन प्रथा की पुनरावृत्ति भर कर दी गई है कि राजा को 'अन्वीक्षकी', त्रयी, दण्डनीति और वार्ता का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए। याज्ञवल्क्य के इस वचन कर टीका करते हुए अपरार्क या विज्ञानेश्वर ने किसी समसामयिक तथ्य का उल्लेख नही किया है। सोमेश्वर के 'मानसोल्लास' मे भी इस सबध मे कोई अतिरिक्त बात नही कही गयी है।

'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' मे सोमेश्वर एक बार प्रासङ्गिक रूप में अपनी पट्टमहिषी से अवश्य कहता है कि वह वेदो, आगमो और इतिहास का विद्वान् है और उसके मन मे अपने गुरुओ के प्रतिपूर्ण आदर है।

'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' के तृतीय सर्ग मे विक्रमादित्य की शिक्षा–दीक्षा का वर्णन करते हुए बिल्हण ने लिखा है कि, शिशुकाल मे विक्रमादित्य लोहे के पिंजडे मे बन्द सिह शावको से खेलता था। बाद मे उसने सभी लिपियो का (सर्वासुलिपिषु) का ज्ञान प्राप्त किया और वह एक कवि और उत्तम वक्ता बना था। हमें राजकुमारियों, उच्च पदाधिकारियो और आम जनता के अधिगमो के बारे में अच्छी जानकारी मिलती है। हम यह मान सकते हैं कि एक ऐसे सुसगठित समाज मे और एक ऐसी राज्य–व्यवस्था मे जिसमें सब कुछ राजा पर ही निर्भर था, राजकुमारो की शिक्षा–दीक्षा पर पूरा ध्यान दिया जाता रहा होगा।

'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' मे शिक्षा के बारे मे प्रत्यक्षरूपेण वर्णित शैक्षिक स्थिति का, शिक्षा के स्तर का, समाज मे शिक्षा के प्रसार हेतु राजकीय तथा सामाजिक

सहयोग था या नहीं, और यदि था तो कितना, आदि का अत्यल्प वर्णन मिलता है। बिल्हण द्वारा दी गई उपमाओ तथा शैक्षिक सूचनाओ के आधार पर उसकी स्थिति जानने का प्रयास करेगे। प्रवरपुर का विद्यामठ निश्चित रूप से शिक्षा का उन्नत केन्द्र रहा होगा क्योकि बिल्हण ने वहॉ से विद्या के प्रचार होने की बात कही है।

यद्भूषाया विहितवपुषस्तस्य विश्ववैक बन्धो
स्फूर्ति कीर्ते पद्मनुपमा सापि विद्यामठस्य।
यस्मिन्नङ्गीकृतकलकला मेखला कामिनीना।
पृष्ठे लग्न कुसुम धनुषस्त्र्यक्षमप्याक्षिपन्ति।[1]

जिस प्रवरपुर का अलङ्कार स्वरूप, शरीरधारी, जगत् का विद्या प्रचार से कल्याण करने वाला विद्यामठ अर्थात् पाठशाला प्रसिद्ध व अनुपम गौरव से कीर्ति का स्थान है। जिस विद्यामठ मे 'कलकल शब्द' करने वाली कामिनियों की करधनियॉ कामदेव के पीछे पडे हुए शङ्कर भगवान् को डराती थी, अर्थात् शकर द्वारा कामदेव के भस्म कर दिए जाने पर भी वे कामदेव को वहॉ जीवित कर लेती थीं।

शिष्यवृत्ति–

आश्रम मे रहकर गुरू का प्रत्येक कार्य करते हुए विद्याध्ययन एवं विद्याभ्यास करना एव आश्रम की व्यवस्था एव अनुशासन मे रहना 'शिष्यवृत्ति' कहलाती थी। प्रत्येक शिष्य 'शिष्यवृत्ति' का पालन करता था चाहे वह उच्च्व कुल का हो चाहे मध्यम। इस प्रकार विद्यार्थी जीवन बडा ही कठोर एव कष्टप्रद होता था।

---

१ विक्रम १८/२१

शिष्यवृत्ति ग्रहण करने पर इन्द्रियनिग्रह विद्यार्थियो का दूसरा प्रधान गुण था। इस समय तपस्वी के समान ही त्याग, उदारता, सहिष्णुता, क्षमा इत्यादि मानवीय गुणो द्वारा अपने चरित्र को उदार बनाना पडता था। समस्त सासारिक सुखो से वह परे होता था।

गुरु की सेवा–शुश्रूषा एव उनके व्यक्तिगत कार्यों को करना 'गुरूकार्य' कहलाता था। आश्रम मे निवास करता हुआ विद्यार्थी आश्रम की पूर्ण रूप से सफाई करता था, झाडू इत्यादि लगाता था। तात्कालिक नृपतिगण गुरुओं का विशेष आदर एव सम्मान करते थे, राजा आह्वमल्लदेव ने अपने पुत्रो की शिक्षा के लिए गुरूओ से राजकीय सम्मानपूर्वक व्यवहार करता था, तथा उन्हे सर्वोच्च सम्मान से सम्मानित करवाता था। बिल्हण के वर्णन मे तो शिक्षा तथा गुरूओ के बारे मे केवल रोशनी ही पडती है लेकिन अभिलेखीय तथा ऐतिहासिक स्रोतो से हम सम्पूर्ण शैक्षिक स्थिति की जानकारी प्राप्त कर सकते है।

गुरु–

(गुणति धर्मादि, गिरत्यज्ञानी वा, गृ 'शब्दे', गृ (निगरणे) वा + उ, वैदिक, तत्सम, अध्यापक)– वैदिक वाड्मय मे 'गुरु' शब्द उस व्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है,[१] जो विद्यार्थी को विद्याध्ययन कराता है। वेद मे गुरू की सेवा– शुश्रूषा, उनका नित्य कार्य करने के लिए विप्र को बल दिया गया है।

आचार्य–

(आचर्यते, चर (गतौ) + ण्यत्, वैदिक तत्सम, उच्चकोटि का शिक्षक)–

---

१ ऋग् १/३६/३, ४, ५, ६

विद्यार्थी को आचार सिखाने के कारण इसे आचार्य कहते हैं। वैदिक वाड्मय मे 'आचार्य' उस शिक्षक के लिए प्रयुक्त हुआ है जो उपनयन सस्कार कराकर विद्यार्थी को वेद शिक्षा देता है।[१] आचार्य शब्द की व्याख्या करते हुए 'यास्क' कहते हैं– शिक्षक को आचार्य इसलिए कहते है चूँकि वह आचार का ग्रहण कराता है, विद्यार्थी को आचार सिखाता है, पदार्थों का सचय करता है, विद्यार्थी को सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थों का दर्शन करा देता है, शिष्य की बुद्धि का सचय करता है। उसकी बुद्धि बढाता है, अत. उसे आचार्य कहते हैं।[२]

कुलपति–

आश्रम अर्थात् विद्या केन्द्र का जो स्वामी या प्रधान (पति) होता था, वह कुलपति कहलाता था। कुलपति के आश्रित दूर–दूर से अनेको शिष्य विद्याध्ययन करते थे। दक्षिण भारतीय अभिलेखो मे पाठशालाओ उनके शिक्षक तथा अन्य शिक्षण सस्थानो के प्रमुख का वर्णन मिलता है।

भाषा और साहित्य–

प्रत्येक युग का साहित्य उस युग का दर्पण और दीप होता है। कवि अथवा साहित्यकार अपने युग के परिवेश से किसी न किसी रूप में प्रभावित होता है। अत उसके साहित्य मे उस युग की सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक स्थितियों के साथ–साथ उस युग की साहित्यिक, भौतिक तथा कलात्मक परिस्थितियों की भी

---

१ सस्कृत अग्रेजी डिक्शनरी, मोनियर विलियम्

२ निरुक्त–सस्कृत–हिन्दी टीका, विद्यावागीश, देवशर्मा शास्त्री

अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से सास्कृतिक, साहित्यिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से 'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' अपने युग का उल्लेखनीय ग्रन्थ है।

यद्यपि बिल्हण के समय मे सम्पूर्ण भारत मे सर्वमान्य भाषा के अतिरिक्त कुछ क्षेत्रीय भाषाये भी मात्र भाषा के रूप मे प्रयोग मे लाई जाती थी। तथापि सस्कृत और प्राकृत मात्र भाषावत् व्यवहृत थी। बिल्हण ने अठारहवे सर्ग मे इसका वर्णन किया है–

"ब्रूम सारस्वतकुलभुव कि निधे कौतुकाना,
तस्यनेकाद्भुतगुणकथाकीर्णकर्णामृतस्य।
यत्र स्त्रीणामपि किमपर जन्मभाषावदेव,
प्रत्यावास विलसति वच सस्कृत प्राकृत च।।[१]

"सरस्वती के आदिधाम, आश्चर्यो की निधि और अनेक अद्भुत गुणो के कथानको के द्वारा जिसने कानो को अभूत से भर दिया है ऐसे उस प्रवरपुर के सबध मे क्या (विशेष) कहा जाए। जहॉ, और तो क्या, स्त्रियो की भी बोली मातृभाषा के समान ही सस्कृत और प्राकृत मे प्रत्यके घर मे सुनाई पडती है।"

इस प्रकार तात्कालिक समाज मे शिष्ट लोगों मे भाषा शुद्ध एव परिष्कृत रूप मे व्यवहरित होती थी, समाज का शिक्षित वर्ग एव शिष्ट वर्ग परिस्कृत भाषा का ही प्रयोग करता था। जिन्हे पतजलि ने शिष्टो की सज्ञा दी है। बिल्हण के उपर्युक्त कथन के आधार पर हम कह सकते है कि सस्कृत प्राकृत आदि प्राचीन भाषाओ का प्रयोग समाज के कतिपय विद्वत् समाज के द्वारा ही न होकर जनसामान्य में भी होता था।

---

१ विक्रम अष्टादश सर्ग ६

कल्याणी के चालुक्य साहित्य के उत्तम सरक्षक थे। जहॉ पर बिल्हण ने कल्याणी के चालुक्य राजा विक्रमादित्य षष्ठ का सरक्षण प्राप्त कर 'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' तथा अन्य तीन ग्रथो की रचना की वही पर धर्मशास्त्र की पुस्तक 'मिताक्षरा' के लेखक विज्ञानेश्वर को भी इनका सरक्षण प्राप्त था। राजकीय सरक्षण प्राप्त होने के कारण साहित्य सर्जना समृद्ध रूप को प्राप्त हुई।

शिक्षा के उद्देश्य–

ग्यारहवी शताब्दी की शैक्षिक व्यवस्था तथा शैक्षिक पृष्ठभूमि पर यदि एक समग्र दृष्टि डाली जाय तो शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। उस समय शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य सच्चे अर्थों मे व्यक्ति को सामाजिक दृष्टि से सभ्य, सुसस्कृत, सुशिक्षित बनना था। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत रूप से विद्यार्थी को व्यायाम, मृगया, युद्ध शिक्षण द्वारा सुगठित, शक्तिशाली एव हृष्ट–पुष्ट, आरोग्य देह से सम्पन्न करना भी तात्कालिक शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य था।

तात्कालिक शिक्षा का उद्देश्य विद्या द्वारा 'विनीत' बनाना था। 'विनय' का अर्थ आत्मसयम था। यह निश्चय ही मनुष्य के चरित्र का सर्वश्रेष्ठ धन है। इसके अभाव मे शिक्षित मनुष्य भी मूर्ख है। शिक्षा का प्रभाव सम्पूर्ण रूप में कल्याणी के चालुक्यो विक्रमादित्य षष्ठ मे देखा जा सकता है। उपर्युक्त शैक्षिक प्रभाव स्वरूप ही विक्रमाङ्कदेव मे उच्च कोटि की नैतिकता, विनम्रता तथा संवेदनशीलता आदि गुण थे।

कला

कला– कला के अतर्गत सभी ललित कलाये समाहित थी जैसे– सगीत, कला, चित्रकला, वास्तुकला आदि। कला की ये सभी विधाये मनोरजन की उत्कृष्ट साधन थी।

११वी शताब्दी मे उत्तर भारत एव दक्षिण भारत में कला के विकास एव उसकी वस्तु–स्थिति का सक्षिप्त वर्णन प्रासगिकता के आधार पर प्रस्तुत है। संगीत एव उससे सम्बद्ध कुछ कलाओं का उल्लेख 'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' मे मिलता है। १०४५ ई० के आस–पास मुगद के एक जैन मदिर के परिषद् में एक निर्माण हुआ था। १४०६ ई० के शिरूर (बीजापुर) के एक अभिलेख मे एक मंदिर को मिले बहुत बडे दान का उल्लेख है। इसमे 'गीत नृत्योपहार' के रूप मे देवता के सामने प्रतिदिन गीत एव नृत्य के आयोजन की व्यवस्था की गई थी।

बीजापुर जिले के एक अभिलेख मे, जिसमे कोई तिथि नहीं है एक मंदिर से सम्बद्ध एक बासुरी वादक, दो गायको, दो नर्तकियो, चार अन्य गणिकाओ और एक मालाकार के लिए दान मे बहुत बडा हिस्सा रखा गया है।

नागै के अभिलेखो मे एक मे (१०८६ ई०) मे ८० 'मत्तर' भूमि दो गायिकाओं और चार ढोल वादको के लिए दी गई थी जिन्हे प्रतिदिन तीन बार सेवा करने को कहा गया था। ६० 'मत्तर' भूमि चरणो के दो समूहो के लिए ४० 'मत्तर' २ नर्तकियों को, ३६ 'मत्तर' ४ नाचने वालियो को इन्हे 'क' भदसूलेयर कहा गया है, सभवतः ये देवता के सम्मुख जुलूस बनाकर रोने की दड हाथो मे लेकर चलती थी दिया गया है।

१०८६ ई० मे बेलारी जिले मे चिन्नतुबलम् के एक मदिर मे मिले दान मे गायक–गायिकाओ, नर्तकियो और ढोलक वादको का भी हिस्सा रखा गया है।

इस महाकाव्य मे भी ऐसी नर्तकियो का उल्लेख मिलता है जो राजा को प्रसन्न करने के लिए राजदरबार मे नृत्य करती थी। ये नर्तकियॉ वेश्याए होती थी इससे नृत्यकला का व्यापक प्रचार समाज मे था और यह तत्कालीन लोगो के मनोरजन का मुख्य साधन थी।

संगीत कला–

श्लोको को तथा वैदिक ऋचाओ का सस्वर पाठ करने की प्रणाली वैदिक युग से चली आ रही थी। स्वरो का तो इतना अधिक महत्त्व था कि स्वर उच्चारण मे भेद होने पर श्लोक का अर्थ ही बदल जाता था। भारत की अर्येतर जातियो मे सगीत नृत्यादि के प्रति अतिशय अभिरूचि थी। ऐसी जातियो मे किन्नर–गधर्व विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन जातियो का जीवन ही कलात्मक अथवा कला के लिए था। किन्नर–गधर्व–अप्सरा ये सभी जातियॉ गान–नृत्य एव वाद्य मे विशेष दक्ष होती थी।

समाज मे सगीत की शिक्षा भली प्रकार दी जाती थी, इस विद्या को 'गान्धर्व शिक्षा' कहा जाता था। वैश्याओं के अतिरिक्त राजपरिवारों के सदस्यो द्वारा नृत्यादि मे भाग लेने का वर्णन विल्हण ने किया।[१]

---

१ विक्रम १०/२६

गांधर्व कला–

(गन्धर्वस्येदम् + अण्, गन्धर्वों से सबध रखने वाला–) वैदिक वाङ्मय मे 'गान्धर्व' शब्द का प्रयोग गन्धर्वो से सबधित अर्थ मे विशेष रूप से गान्धर्व विवाह के लिए प्रयुक्त हुआ है।[१] गन्धर्व आदिकाल से ही कला प्रेमी थे, कला प्रेम इनके जीवन की सबसे बडी विशेषता थी। इस प्रकार गायन, वादन तथा नृत्य तीनो की समष्टि का ही नाम 'गान्धर्व' था। वराहमिहिरसहिता, हरिवशपुराण,[२] तथा वायुपुराण[३] में गधर्व का प्रयोग 'सगीत' के अर्थ मे मिलता है।

सगीत–तत्त्व का विकास सामवेद मे सामवेदियो के माध्यम से हुआ। मत्रो का उदात्त अनुदात्त–स्वरित स्वरो के क्रम से उच्चारण स्वर सगीत का ही प्रथम दिग्दर्शन कराता है।

नृत्यकला का विकास वैदिक युग मे हो गया था। भारतीय सगीत परम्परानुसार शास्त्रीय तथा लोकनृत्य का जन्म धार्मिक प्रवृत्ति के माध्यम से हुआ। देवी–देवताओ की पूजा के अवसर पर भारतीय प्राचीनकाल से अपने हृदयगत उल्लासो को प्रकट करने के लिए अग सचालन करते थे। वैदिक यज्ञों के अवसर पर ऋत्विजो का विशेष प्रकार का हस्तअगादि सचालन नृत्य के विकास में सहायक हुआ। शिव तो 'ताडवनृत्य' के जनक माने जाती है और पार्वती लास (सुकुमार नृत्य की जननी मानी जाती है।) 'नृत्य शब्द' नृत् धातु से बना है जिसका अर्थ है 'गात्र विक्षेप' इसमे अग–प्रत्यगो का मधुर एव गतिशील सचालन किया जाता है।

---

१ ऋग् १०/८०/३, शत० ब्रा० १०/१/५

२ हरिवश १६२६१

३ वायु पुराण– १/२१/३०

वाद्य–

चालुक्यो के काल मे विभिन्न वाद्य–कलाओ की उन्नति हुई। कल्याणी के चालुक्य सगीत के उत्तम सरक्षक थे। तात्कालिक राजाओ के आश्रय मे नृत्य–कला, वाद्य–कला, सगीत–कला, को विशेष रूप से प्रश्रय मिला। राजाओ की पान–भूमि में, नगरो मे, महलो मे एव युद्ध के समय प्रयोग मे लाए जाने वाले इन वाद्ययन्त्रो का विस्तृत परिचय प्राप्त होता है। उसके आधार पर हम यह कह सकते है कि सगीत के क्षेत्र मे उल्लेखनीय प्रगति हो चुकी थी। यदि कुछ वाद्यो का आविर्भाव अपने यहाँ हुआ था, तो कुछ निश्चित रूप से विदेशो से आये जिनका यहाँ प्रचार हुआ। 'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' मे जिन वाद्यो का उल्लेख मिलता है उसमे कुछ हाथ से आघात करने पर ध्वनि करते थे तो कुछ हवा की फूँक से बजने वाले वाद्य थे।

चमड़े से निर्मित वाद्य–

जिन वाद्यो मे चमडे पर आघात करने पर नाद–उत्पत्ति होती है 'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' में इनका विवरण प्राप्त होता है। उन्हें अनबद्ध वाद्य की सज्ञा दी गई है। 'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' मे अनबद्ध (चमडे द्वारा निर्मित) वाद्य का वर्णन कई स्थानो पर मिलता है। जैसे– मृदग आदि।

हवा की फूँक से बजने वाली वाद्य–

शंख– यह मुँह द्वारा हवा की फूँक से बजाया जाता था। यह एक मांगलिक वाद्य होता था जिसका उपयोग हर्ष के अवसर पर तथा धार्मिक अनुष्ठानो मे किया जाता था। महाराजा आहवमल्लदेव, सोमेश्वर तथा विक्रमाङ्कदेव के नगर के प्रस्थान

के समय शख नाद किया जाता था। राजाज्ञा घोषित करने के लिए भी शख बजाया जाता था। शख वाद्य भी एक प्राचीन वाद्य है तैत्तिरीय ब्राह्मण (३/४/१४) मे शख का वर्णन मिलता है।

तूर्य– (तूर्यते, ताड्यते, तूर + यत्, वाद्य विशेष तुरही)– इस वाद्य का विकास वैदिक युग के पश्चात् हुआ है। जो लम्बे आकार का तुरही नाम वाला था। यह हवा की फूॅक से बजाया जाता था। राजाज्ञा तथा मागलिक कार्यों के अतिरिक्त युद्ध के समय तूर्यनाद किया जाता था। एक तरह से यह मुख्य राजकीय वाद्य था। तुरही[1] की ध्वनि प्रायः सचेतक ध्वनि होती थी।

नृत्य– नृत्य कला का समाज मे विशेष रूप से प्रचार था, अप्सरायें इन कलाओ मे विशेष निपुण होती थी। राजागण नृत्य के विशेष प्रेमी होते थे। राजाओ के आश्रय मे अनेक नृत्यागनाएँ रहती थी।[2]

नर्तक–

नृत्य करने वाले को 'नर्तक'[3] या 'नर्तकी' कहते थे और नृत्य–क्रिया के लिए 'नृत्यति'[4] का प्रयोग हुआ है। इस युग मे पुरूष–स्त्री दोनो समान रूप से नृत्य करते थे और अग विक्षेप द्वारा भावो का प्रदर्शन करते थे। विक्रमाङ्कदेवचरितम् में अप्सराओ के प्रसङ्ग मे नर्तकी शब्द का प्रयोग तो मिलता है किन्तु नर्तक शब्द का प्रयोग नहीं

---

१ विक्रमा १५/२३

२. विक्रमा. १७/२१

३. ऋग १/९२/४, १०/१८/३

४ वा० रा० २/८५/४६

४प्राप्त होता। तत्कालीन अभिलेखो मे पुरुष नर्तक का उल्लेख मिलता है।[1]

संगीत की सर्वव्यापकता—

सगीत आदिकाल से लेकर मध्यकालीन समाज के मनोरंजन का मुख्य साधन था। साथ ही यह उनके जीवन का अभिन्न अग भी था। इसीलिए एतद्युगीन राजा—प्रजा, स्त्री—पुरूष, वानर—राक्षस आदि समाज की सभी जातियो में सगीतकला को प्रश्रय मिला। नगर गीत एव वाद्यो के मधुर स्वर में गुंजायमान रहते थे। चालुक्यो की राजधानी गीत—वाद्यो के मधुर स्वर से आपूर्ण रहती थी। विक्रमाङ्कदेव के राजमहल तथा मदिरो के आगन मे होने वाले अद्भुत नृत्य के समक्ष स्वर्ग की अप्सराए भी पराजित हो जाती थी।[2] अर्थात् नृत्य—सगीतादि मैं इस स्तर की दक्षता तत्कालीन समय मे इसकी लोकप्रियता का ही सकेतक है।

धार्मिक पूजा पाठ के अवसरो पर भी सगीत का आयोजन किया जाता था जैसे आहवमल्ल के ज्येष्ठपुत्र सोमेश्वर तथा मध्यमपुत्र विक्रमादित्य षष्ठ के राज्याभिषेक के समय सगीत का आयोजन होगा। राजा आहवमल्लदेव की असाध्य रोग के कारण मृत्यु के पश्चात् राजमहल मे शोक—ध्वनि की धुन बजाई जाती थी। इसके अतिरिक्त पूजागृहो मे रानी तथा अन्य राजपरिवार के लोगों द्वारा भी संगीतमय वातावरण में पूजादि धार्मिक कृत्य सम्पन्न किया जाता था।

स्त्रियॉ भी संगीत नृत्य मे पर्याप्त मात्रा में रूचि लेती थी।

---

१ दक्षिण भारत का प्राचीन इतिहास (जी याजदानी)

२. विक्रम. १७/२१

'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' मे अनेक सर्गों मे वैश्याओ तथा सामान्य स्त्रियो के नृत्य करने, सगीत मे निपुण होने आदि का वर्णन मिलता है। उनका सगीत बडा ही हृदयाकर्षक होता था। क्योकि कठ एव स्वर की कोमलता के कारण वे मधुरता से गायन कर सकती थी। इन वाद्यो का मुख्य रूप से प्रयोग देव मदिरों एव युद्ध इत्यादि के समय होता था। यद्यपि वाद्य कैसे निर्मित होते थे एव किस प्रकार बजाये जाते थे एव इत्यादि का वर्णन नही प्राप्त होता है।

विक्रमादित्य षष्ठ के दरबार मे नृत्य आदि सगीतयुक्त समारोहों के होने का वर्णन बिल्हण ने 'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' के १७वे, १८वे सर्ग मे किया है।

स्थापत्य कला–

मंदिर–

दरबार के बाद कलाओ के सवर्धन मे मदिरो का योगदान रहता था। इसमे सगीत और नृत्य को तो प्रोत्साहन मिलता ही था। इसके साथ ही समाज मे कला के क्षेत्र ये जो उत्तम था वह मदिर में ईद–गिर्द एकत्र होता था। उत्त्मोत्तम वस्तुयें देवता को अर्पित की जाती थी वस्तुत देवता को अर्पित कर इन्हें वे स्वय को ही अर्पित करते थे। किन्तु यह अर्पण थोडा घुमाकर होता था। इसी प्रकार सभी मंदिर मे रूचि लेते थे और इसे सामाजिक जीवन को जोडने वाली एक मजबूत कड़ी के रूप मे विकसित करते थे। सदियो तक मदिरो ने ऐसी भूमिका निभाई है। जाति प्रथा मे सामाजिक विविक्तता निहित थी।

कश्मीर के राजा जेयगुप्त द्वारा बनवाया गया क्षेत्र 'गौरीश्वर महादेव' का

प्रसिद्ध मंदिर आकाशरूपी आगन को भूषणता को प्राप्त होता है। इस मदिर के भव्यता की उल्लेख 'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' मे बिल्हण द्वारा किया गया है।

"तत्पर्यन्तस्थित गुणनिकामण्डप यत्र घत्ते
धाम व्योमाङ्गणतिलकता क्षेमगौरीश्वरस्य।
रामा रामानुकरणविधौ यत्र नाट्यप्रयोगे
योगस्थानामपि सपुलक गात्रमासूत्रयन्ति।।"[1]

१०७३ ई० कुंडल (बेल्लारी) के संगमेश्वर मदिर को 'पुण्यतिथियो' पर 'पचामृतस्नान' और 'गंधानुलेप' के लिए अक्षय दान मिला। पंचामृत तो एक प्रकार से फलों का स्वादिष्ट रस मिश्रण सलाद है जो यदि ठीक से बनाया जाये वो कई दिनो तक नही बिगडता। आज तक कुछ मदिरो मे इस प्रकार के उत्तम 'प्रसाद' बनते है। 'पचामृत' मे प्रतिमा को थोडी देर तक स्नान कराते है। फिर उसे अलग कर भक्तो मे वितरित कर देते है। भक्तो की जाति, धर्म या व्यवसाय का इसमे कोई ध्यान नही रखा जाता। इसी प्रकार चदन का लेप त्वचा पर करने से आनंद मिलता है, विशेषकर गर्मी के दिनो मे कश्मीर के राजा अनन्त की महिषी सुभरा के बनवाये हुए गौरीश्वर महादेव के मंदिर के पास में अपनी ऊँचाई के लिए प्रसिद्ध था। इस मंदिर मे प्रसिद्ध अन्नागार भी था।

यत्रानन्तक्षितिपगृहिणी शंङ्करागारपार्श्वे
तन्तुङ्गिम्ना त्रिभुवनमनोरञ्जन गञ्जधाम।
श्रुत्वा श्रुत्वा रूतमविरत यत्र पारा वतानां

---

१ विक्रम. अष्टादश श्लोक– २३

दक्षा· कण्ठध्वनिषु शनकै पौरकन्या भवन्ति।"[1]

मध्यकालीन भारत की सामाजिक अर्थ व्यवस्था मे मदिरों की भूमिका अतिशयोक्तिपूर्ण नही थी। तैल के शासन काल के सोगल अभिलेख में कहा गया है कि मदिर के साथ जो 'सत्र' है उसमे बनने वाला भोजन कोई ब्राह्मणी बनाती थी। मंदिरो मे बडे–बडे दान किए जाते थे।

१०१८ ई० मे बागली (बेल्लारी) के कलिदेव स्वामी के मदिर के अक्षय दान मिला था जिससे देवता के 'निवेदय' शाश्वत दीप 'नदादी विगे' सन्यासियो के लिए सत्र, 'गणिकाओ' के भरण–पोषण, एक सूले वाल, एक बासुरी वादक, एक नगाडे वाला, और एक 'पाल' के भरण पोषण और बाहर से आने वाले विद्यार्थियो 'देसिग छात्र' के लिए व्यवस्था की गई थी।

'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' मे बिल्हण द्वारा राजा प्रवरसेन का बनवाया महादेव के आश्चर्य कारक मदिर जो कि शिवमदिर स्वर्ग मे सशरीर जाने वाले राजा प्रबरसेन के स्वर्गदार तुल्य ऊपर बने छेद को धारण करता था।

गेह यत्र प्रवरगिरिजावल्लभस्याद्भु तत्।
केषा माशा सुरपतिपुरारोपणे नातनोति।
यद्यातस्य प्रवरनृपतेर्द्यॉ शरीरेण सार्धं।
स्वर्ग द्वार प्रति ममुपरिच्छिद्रमद्यापि धत्ते।[2]

१०२६ ई० मे देयूर के शिव मदिर को रानी सुग्गलदेवी ने दान दिया था

---

१. विक्रम अष्टादश श्लोक– २६

२. विक्रम. अष्टादशः श्लोक– २८

जिसमे अन्य बातो के अतिरिक्त स्थानीय सन्यासियो और विद्यार्थियो के भोजन, वस्त्र और चिकित्सा की व्यवस्था की गई थी।

वास्तुकला और प्रतिमाएँ—

वास्तु पत्थर और धातु की प्रतिमाओ का निर्माण और चित्रकारी का अभ्यास मुख्य रूप से मदिरो में या मदिरो के लिए होता था। उस काल का कोई भी महल या घर अब अस्तित्व मे नहीं है, तथापि पत्थरो के बने बहुत से मदिर अभी अवशिष्ट हैं जिनमे कल्याणी के चालुक्यो के अधीन अच्छा—खासा अभ्यास मिल जाता है। १०६२ ई० के नागै के एक अभिलेख मे मधुसूदन दण्डनायक द्वारा बनवाये मधुसूदन के मंदिर का वर्णन है। लेख मे लिखा है इसका शिखर आसमान को चूमता था, इसके विशद कक्षों में स्थान—स्थान पर सुन्दर प्रमिताएँ सुशोभित थीं, इसमें एक 'नाट्यशाला' थी, एक 'गरुडस्तभ' था, इसके प्रवेश का गोपुरम तिमजिला था, वह इन्द्र के विमान की भाति दिखता था, एक 'अनुष्ठान भवन' था जहॉ विभिन्न सम्प्रदायो के सन्यासी और विद्वान् शास्त्रार्थ और पूजा—पाठ करते थे, एक मठ था जहॉ वेद की सभी शाखाओ और वेदाङ्गो के साथ अध्ययन होता था, अनेक तोरण प्रसाद और प्राकार थे।

१११६ ई० में मार्तडय्य नायक के कुडितणि मे मार्तण्डेश्वर नामक एक शिव मंदिर बनवाया था। उसके साथ सरस्वती और विनायक के छोटे—छोटे मंदिर थे। इस मदिर मे एक विशाल सभा मडप था जिसमे बहुत से लोग एक साथ बैठ सकते थे। यह मण्डप लता मण्डप की भाति सुशोभित था संसार के सभी मदिरो मे यह श्रेष्ठ गिना जाता था।

११५६ ई० का बेलगावे के एक अभिलेख के अनुसार दण्डनायक केसिराज ने केसव का एक मदिर बनवाया था जिसकी लकडियो, पत्थरो आदि मे भांति–भाति की उत्तम नक्काशी की गई थी और उन पर सुन्दर चित्र बने थे। इस उत्कृष्ट मदिर के सामने उसने एक सुन्दर नगर बसाया था। जिसमें बडे–बडे मकान थे। हर मकान के हर कक्ष मे मुलायम से मुलायम पलग और तरह–तरह के बर्तन थे। इसी प्रकार के सुन्दर नगर विक्रमपुर को बसाने का वर्णन बिल्हण ने अपने 'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' में किया है–

निरन्तरं ब्रह्मपुरीभिरावृत
चकार तत्रैव पुर स पार्थिव।
विरिञ्चिलोकात्सुरलोकतश्च यद्
विभूष्यभागाविव कौतूकात्कृतम्।।[1]

अब हम वास्तुकला के तकनीकी पक्ष पर प्रकाश डालेंगे। १०४२ ई० में किसी कुचवड्डुग दासय्य से सिरूर मे एक 'सिरिवागिलु' लक्ष्मी के द्वार का निर्माण किया था। सूडि मे नागेश्वर का मंदिर प्रसिद्ध विद्वान् शंङ्कराचार्य ने बनवाया था जिनकी विद्वता और चरित्र की प्रशसा निर्माण के अभिलेख मे (१०६० ई०) पूरे दो श्लोको मे की गई है। शङ्कर को ज्ञान का आगार और 'वक्रोक्तिवाचस्पति' कहा गया है।

इस लेख मे खास तौर पर यह कहा गया है कि उन्होंने मंदिर को पूरा कराया और उस पर इतना सुन्दर कलश रखा जिसकी बिना देखे कोई कल्पना भी नही कर सकता था।

---

१ विक्रम १७/२६

शिल्प–

इस युग मे 'कला' एक व्यवसाय के रूप मे प्रतिष्ठित थी और व्यावसायिक कलाकार को 'शिल्पकार' कहते थे। बहुत से दूसरे अभिलेखो के अत मे उनके खोदने वालो मे नाम आए हैं। यद्यपि उस समय समूचे भारत मे ऐसे सगतराश और शिल्पी पर्याप्त सख्या मे थे, जो बडी कुशलता से अभिलेख खोद सकते थे किन्तु महाकाल की भाति कुशलता का दावा शायद किसी ने नही किया है।

जड़ाई की कला–

जडाई की कला अमीरो के लिए है। इसे मदिरो और राज–परिवारों से ही प्रोत्साहन मिलता रहा। मारसिध प्रभु के 'सिरूर के अभिलेख' मे उन रत्नो की सूची दी है जिन्हें १०४६ ई० मे उसने वहॉ के विष्णु के मंदिर मे दान दिया था। उसमे कङ्कण, कटिसूत्र, बाहुपूर्ण, नूपुर, मुकुट, कुण्डल केयूर और हारादि पदकम् त्रिकम (बढिया लटकन के साथ हार के तीन सेट) का विशेष रूप से उल्लेख है।

विष्णु के आयुध–शख, चक्र, गदा और पद्म–सभी रत्न जटित थे। चोल अभिलेखो मे विशेषकर तजौर के आभूषणो के इस प्रकार के विशद वर्णन तो खूब मिलते हैं, पर चालुक्य अभिलेख विरले ही इनका उल्लेख करते हैं। हमने युवराज पद के चिन्हकठिका का उल्लेख किया था। खास–खास स्त्रियो के वर्णनों मे उनके भाति–भाति के आभूषण धारण करने के उल्लेख मिलते हैं।

११४७ ई० के एक अभिलेख मे सेबिसेट्टि नामक एक जौहरी का उल्लेख आया है जो सम्राट और सेनापति बर्म्मदेव को रत्न बेचता था।

परिशिष्ट

परिशिष्ट

साहितियक सूक्तियाँ–

१ अनभ्रवृष्टि·श्रवणामृतस्य सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमि·।

वैदर्भरीति· कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभप्रतिभू· पदानाम्।।१/६।।

"वैदर्भीरीति का आविर्भाव उत्कृष्ट और अच्छे काव्य की रचना करने मे कुशल, पुण्यात्मा कवियों में ही होता है। अर्थात् वैदर्भीरीति मे रचना हर एक कवि नहीं कर सकता। यह वैदर्भीरीति श्रवणेन्द्रिय को आनन्द देने वाले अमृत को बिना मेघ की वर्षा है, वाणी के विलास का जन्म स्थान है और पदों की यथोचित स्थान प्राप्त होकर उनके सौन्दर्यवृद्धि की जामिन है।"

२ साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थ कर्णामृत रक्षत हे कवीन्द्रा।

यदस्य दैत्या इव लुण्ठनाय काव्यार्थचौरा प्रगुणीभवन्ति।।१/११।।

"हे कवियो मे श्रेष्ठ कविगण, साहित्यरूपीसमुद्र के मंथन करने से अर्थात् चिरकाल तक अभ्यास करने से उत्पन्न और कान को सुख देने वाले काव्यरूपी अमृत की सदैव रक्षा करते रहिए। क्योकि इस काव्यरूपी अमृत की सदैव चोरी करने के लिए, समुद्रमंथन के समय अमृत की चोरी करने में लालायित दैत्यो के समान बहुत से काव्यरूपी धन के चोर एकत्रित हो गए हैं।"

३ गृह्णन्तु सर्वे यदि वा यथेष्टंनास्ति क्षति· कापि कवीश्वराणाम्।

रत्नेषु लुप्तेषु बहुष्वमर्त्यैरद्यापि रत्नाकर एव सिन्धु· ।।१/१२।।

"अथवा काव्यार्थ चोर काव्य रूपी द्रव्य की चोरी यथेच्छ करते रहे, इसमे श्रेष्ठ कवियो की कोई क्षति नही है। देवताओ ने समुद्र मे से बहुत से रत्न निकाल लिये तो भी समुद्र अभी भी रत्नाकर ही कहा जाता है।

४ कुण्ठत्वमायाति गुण· कवीना साहित्यविद्याश्रमवर्जितेषु।

कुर्यादनार्द्रेषु किमङ्गनाना केशेषु कृष्णागरूधूपवास.।।१/१४।।

"कवियों का गुण (वैशिष्ट्य) साहित्यविद्या अभ्यास करने में, परिश्रम न करने वाले तथा नीरस मनुष्यों पर अपना प्रभाव नही डाल सकता। स्त्रियों के स्निग्धता रहित सूखे हुए केशों में चन्दन विशेष या कस्तूरीमिश्रित सुगन्धित द्रव्यों का धूप क्या कर सकता है। अर्थात् सूखे हुए केशो को सुगन्धित धूप देने से उनमे सुगन्ध नही आ सकती।

५ व्युत्पत्तिरावर्जितकोविदाऽपि न रञ्जनाय क्रमते जडानाम्।

न मौक्तिकच्छिद्रकरी शलाका प्रगल्भते कर्मणि टङ्किकाया.।।१/१६।।

"पण्डितों को आकर्षित करने वाली नवीन कल्पना या काव्य रचना की कुशलता मूर्खो को आनन्दित नही कर सकती। मोती में छेद करने की सुई टांकी का काम नही कर सकती। अर्थात् सूक्ष्म बातो को कुशाग्रबुद्धि ही समझ सकता है। स्थूल बुद्धि वालो को उनसे कोई सुख नही मिलता।"

६ कथासु ये लब्धरसाः कवीनां ते नानुरज्यन्ति कथान्तरेषु।

न ग्रन्थिपर्णप्रणयाश्चरन्ति कस्तूरिकागन्धमृगास्तृणेषु।।१/१७।।

"जो लोग अच्छे कवियो के काव्यो को पढकर आनन्द प्राप्त कर चुके हैं, वे अन्य छोटे मोटे कवियो के काव्यो मे आनन्द नही प्राप्त कर सकते। गठिवन नाम के सुगन्धित पौधे को खाने के प्रेमी कस्तूरीमृग अन्य घासपात नही चरते।"

७ लङ्कापते· सङ्कुचित यशो यद् यत्कीर्तिपात्र रघुराजपुत्रः।

स सर्व एवाऽऽदिकवेः प्रभावो न कोपनीया कवय क्षितीन्द्रै·।।१/२७।।

"रावण की कीर्ति जो न फैल सकी अर्थात् नष्ट हो गयी और दशरथ जी के पुत्र राम, जो कीर्ति के पात्र हुए, यह सब आदि कवि वाल्मीकि का ही प्रताप है। इसलिये राजाओं को कभी भी कवियों को कुपित नहीं करना चाहिए।

१ दोषजातमवधीर्य मानसे धारयन्ति गुणमेव सज्जना।

क्षारभावमपनीय गृह्णते वारिधे सलिलमेव वारिदा.।।५/५१।।

"सज्जन लोग दोषो को छोडकर मन मे गुण को ही धारण करते हैं। मेघ समुद्र के खारेपन को छोडकर विशुद्ध मधुर जल ही ग्रहण करते हैं।

२ मरणमपि तृणं समर्थयन्ते मनसिजपौरूषवासितास्तरूण्य·।।६/१३।।

कोई नागरी इसको देखने के लिए, गिरने का भय छोडकर जल्दी से न चढे जाने योग्य घर के सबसे ऊँचे भाग पर चढ गयी। कामदेव के पराक्रम से अभिभावित अर्थात् कामासक्त युवतियाँ, मौत को भी तृण के समान तुच्छ समझती हैं।"

३ अवतरति मृगीदृशा तृतीय मनसिजचक्षुरुपायदर्शनेषु।।६/१४।।

"किसी अन्य स्त्री ने अकारण कोलाहल मचाकर, विक्रमाङ्कदेव का दृष्टिकोण अपनी ओर आकर्षित किर लिया। मृगनयनियो का कामरूपी तृतीय नेत्र (ऐसे–ऐसे) उपायो का सुझा देता है।"

४ इह हि विहितभूरिदुष्कृताना विगलति पुण्यचय पुरातनोऽपि।।६/६४।।

"जल्दी ही तुम्हारे बडे भाई सोमदेव की सुखानुभूति के लिये रत्तीभर भी पुण्यकर्म (अवशिष्ट) न रहेगा। क्योकि इस ससार मे अत्यधिक पाप करने वालो का प्राचीन सञ्चित पुण्य भी क्षीण हो जाता है।"

५ लम्भिता कदलीस्तम्भास्तदूरुभ्या पराभवम्।

अत्यन्तमृदुभिर्लब्धो जडै क्व जयडिण्डिम।।८/१५।।

"इसके दोनो ऊरूओ से केले के खम्भे पराजित कर दिये गये थे। अत्यत कोमल या सीधे–साधे ठण्डे या मूर्खों से विजयदुन्दुभी का घोष कही भी प्राप्त नही किया जा सकता। अर्थात् उसके ऊरू केले के खम्भे से भी अधिक सुन्दर थे।"

६ तेषा प्रसन्नों हि बिलासबाण क्रीडन्ति दासैरिव यैर्मृगाक्ष्य।।१०/२४।।

"क्योकि मृगनयनियॉ दासो के समान जिनके (वृक्षो या मनुष्यो के) साथ खेला करती है उन पर कामदेव प्रसन्न होता है। कामिनी की लात के मारने से अशोक वृक्ष फूलने लगता है ऐसी कविप्रसिद्धि है।"

७. निसर्गरम्येऽपि विचेष्टिते यदतिप्रसङ्गो रस,भङ्गहेतुः।।१०/८७।।

"क्योकि प्रकृत्या रमणीय चेष्टाओ मे (कार्यों मे) भी अति करना नीरसता का हेतु हो जाता है।"

सामाजिक सूक्तियाँ–

१ प्रिय प्रसादेन विलाससम्पदा तथा न भूषाविभवेन गेहिनी।

सुतेन निर्व्याजमलीकहासिना यथाङ्कपर्यङ्कगतेन शोभते।।२/३२।।

"गृहिणी जिस प्रकार कपट रहित स्वाभाविक हास्य करने वाले गोद रूपी पलग पर लेटे हुए पुत्र से शोभित होती है वैसे न तो पती की प्यारी होने से न उपयोग सुख समृद्धि की वस्तुओ से न गहना कपडा पहनने से शोभित होती है।

२ शुभाशुभानि वस्तूनि सम्मुखानि शरीरिणाम्।

प्रतिबिम्बमिवायान्ति पूर्वमेवान्तरात्मनि।।४/३४।।

"निकट भविष्य मे होने वाली शुभ और अशुभ घटनायें प्राणियों के हृदय मे प्रतिबिम्ब के समान पहले ही प्रतिबिम्बित हो जाती हैं।"

३ महात्मनाममार्गेण न भवन्ति प्रवृत्तय.।।४/६५।।

"शौर्यादिगुणो मे श्रेष्ठ होने पर भी विक्रमाङ्कदेव अपने बड़े भाई सोमदेव को पिता आहवमल्ल के समान ही आदरपूर्वक मानता था। बडे लोगों के व्यवहार अनुचित तरीके से नहीं होते।"

५ अद्यजातमपि मूर्ध्नि धार्यते किं न रत्नममल वंयोधिकैः।।५/८३।।

"मैं अवस्था मे बडा हूँ ऐसा विचार कर क्यो मुझे चरण पर पडने से रोकते हो। मेरे मस्तक पर अपना चरणपल्लव रक्खो अर्थात् मुझे चरण पर पडकर प्रणाम करने दो। क्या वयोवृद्ध आज ही प्राप्त अर्थात् नवीन निर्मल मणि को अपने मस्तक पर नही धारण करते अर्थात् करते ही है।"

६ गुणो किं काले गुणिना गुणाय।।७/३२।।

"गुणियों का गुण अवसर पर ही गुणधायक होता है। अर्थात् सुग्गों का कोयल की बोली बोलना यह एक गुण है किन्तु पतिविरहजन्य दुःख की अवस्था मे वह गुण अवगुण सा हो जाता है।"

७ कन्यापितृणां पदमुत्सवस्य न श्लाघ्यजामातृसम समस्ति।।६/४१।।

"कन्या के पिताओं के लिये योग्य जमाता प्राप्त होने के समान दूसरा कोई आनन्द का विषय नहीं है।"

८ इह हि सदृशयोग कस्य न प्रीतिहेतु।।६/१५०।।

"क्योंकि इस ससार मे वरवधू का समान गुणशील होना किसको आनन्द नही देता। अर्थात् समान गुणशील वाले वरवधू के विवाह से सबको आनन्द होता है।"

६ अकौशलं पत्युरिद चिरेण विश्वासमायाति नवा वधूर्यत्।।१०/७।।

"यह पति की अकुशलता है जिससे नववधू को अपने पति में विश्वास प्राप्त होने मे विशेष समय लगता है।"

१० निरूध्य रन्ध्रं मधुपूरितस्य पुष्पस्य लोभाद्भ्रमरोऽवतस्थे।

अन्येन मार्गेण पपुस्तदन्ये लुब्धैर्जनानामयमेव मार्ग ।।१०/१३।।

"एक भौंरा लोभ से पराग भरे फूल के मुख को रोक कर बैठ गया। (यह देखकर) दूसरे भौरे दूसरे मार्ग से पुष्प रस का पान करने लगे। लोभियों के साथ अन्य पुरूषों का ऐसा ही व्यवहार होता है। अर्थात् यदि कोई पुरूष लोभ से सब हमी को मिले ऐसी इच्छा से धन लेने मे प्रवृत्त होता है। तो उसे देखकर अन्य लोग उसमें हिस्सा लगाने का मार्ग ढूँढ निकालते हैं।"

११ किमस्ति बैदग्ध्यवतामसाध्यम् ।।१०/४६।।

"चतुर जनो के लिये क्या असाध्य है अर्थात् कुछ नहीं।

१२. स्त्रीणा हि सौभाग्यमदप्रसूति प्रिय प्रसादो मदिरासहस्त्रम्।।१०/५२।।

"क्योकि सौभाग्यरूपी नशे को उत्पन्न करने वाली पति की प्रसन्नता शराब से हजारगुना नशा पैदा करने वाली होती है।"

१३ लज्जा कुत· स्वार्थपरायणानाम्।।१०/६२।।

"अपना स्वार्थ सिद्ध करने मे लगे प्राणियो को लज्जा कहॉ।

१४ सत्त्वमुन्नतपदात्पतितानां विद्यते न महतामपि नूनम्।।११/४।।

"ऊॅचे पद से गिरे हुए बडे लोगों में भी निश्चय ही स्वाभिमान नहीं रह जाता।"

१५ कं विडम्बयति नो कुसुमेषु.।।११/२४।।

"कामदेव किसकी विडम्बना नही करता यानी सबकी विडम्बना करता है। अर्थात् धोबिन को आती देखकर भीड हट गई और रास्ता सफा होने से वह शीघ्र अपने पति के मिलने के स्थान पर पहुँच सकी। किन्तु कामासक्त होने से उस धोबिन बनने की दुर्दशा भोगनी पडी।"

१६ परोपतापैकपरायणाश्चिर क्व वा भवन्त्यभ्युदयस्य भूमय.।।१३/२।।

"केवल दूसरों को पीडित करने मे ही लगे हुए लोग चिरकाल तक अभ्युदय के पात्र कहॉ होते हैं? अर्थात् नहीं होते।"

१७. करोषि कि शुभ्रतया तदीयया न चन्दनम् सुन्दरमेणनाभित. ।।१३/७२।।

"उसकी सफेदी का क्या विचार करना है। काले रग की कस्तूरी से सफेद रग का चन्दन बढ कर नही होता है।",

१८ न त्वरा दधति धीरचेतस ।।१४/१४।।

"गम्भीर ह्रदय वाले पुरूष जल्दी नही करते। अर्थात् खूब विचार कर ही कुछ करते हैं जल्दी मे नही।"

१९ जायते मतिविपर्ययो नृणा प्रायशः परिभवे भविष्यति।।१४/५१।।

"मनुष्यो का पराजय भविष्य में होनहार होने पर प्रायः बुद्धिवैपरीत्य हो जाया करता है अर्थात् बुद्धि खराब हो जाती है।"

२० भवति हि मतिर्भाग्यभ्रशे नितान्तमनङ्कुशा।।१४/७२।।

"क्योकि दुर्भाग्य के उदित होने पर बुद्धि अत्यन्त निरङ्कुश अर्थात् स्वेच्छाचारिणी हो जाती है। अर्थात् उसमे विचार शक्ति नहीं रह जाती।"

२१ प्रकृतिमहसा दुर्वृत्तेष्वप्यहो चटुला क्रुध.।।१५/८५।।

"ऊँचे विचार वाले महात्माओ का कुकर्मियो के प्रति भी क्रोध क्षणिक रहता है।"

२२. पुण्ड्रेक्षुपाकपूतानि क्षेत्राणि दधि मासलम्।

आसीत्कुङ्कुमचर्चा च हन्त हेमन्तजीवितम्।।१६/१३

"पौढो के पकने से जगमगाते खेत गाढा दही और केसर का लेप, ये हर्ष का विषय है कि हेमन्त ऋतु के प्राण थे। अर्थात् उपर्युक्त तीनों चीजे हेमन्त ऋतु में ही प्राप्त हो सकती हैं।"

२३ प्रायेण देहविरहादपि दु सहोऽय।

सर्वाङ्गसंज्वरकरः प्रियविप्रयोग ।।१६/४०।।

"प्राय· सम्पूर्ण शरीर के अवयवो मे ज्वर अर्थात् पीड़ा उत्पन्न कर देने वाला यह पतिवियोग मर जाने से भी अधिक दु:खद होता है।

आर्थिक सूक्तियॉं–

१. फल हि पात्रप्रतिपादनं श्रिय ।।२/२६।।

"परशुराम के भयकर धनुष के सहार के समान सहार करने वाला वह प्रसिद्ध राजा आहवमल्लदेव, समग्र दिशाओ को जीतकर और सैकडो अर्थिजनों को दान देकर कल्याणपुर मे रहने लगा। क्योकि लक्ष्मी का सार्थक्य योग्य आर्थियों को दान देना ही है।"

२. इयं हि लक्ष्मीर्धुरि पासुलाना केषा न चेत कलुषीकरोति।।३/४२।।

"इस प्रकार पुत्र की कर्ण को पवित्र करने वाली अर्थात् कान को अच्छी लगने वाली वाणी को सुनकर राजा को आश्चर्य हुआ। क्योकि स्वेच्छाचारिणियो में अग्रणी लक्ष्मी किनके चित्तो को मलिन नही कर देती अर्थात् लक्ष्मी की प्राप्ति मे सभी मनुष्यो का मन कलुषित हो जाता है।"

३. अपि नयनिपुणेषु नो भरेण क्षिपति पद किमुत प्रमादिषु श्री ।।६/२८।।

"जिसके पावों में घाव रहता है वह स्वभाव से ही अपने चुटीले पॉव पर शरीर का कुल बोझा देकर कभी नहीं चलता है। जख्मी पाव वाली लक्ष्मी इसी से नीति निपुणो के पास भी अपने पॉव पर शरीर का पूरा बोझा देकर नहीं रहती अर्थात् सर्वतोभावेन नहीं रहती।"

४ कि प्रमाद्यसि न सर्वदासुख कस्यचित्प्रकृतिभङ्गुरा· श्रियः।।१४/४३।।

"क्यो प्रमादकरते हो अर्थात् क्यो अन्धेर करते हो। किसी को भी सदा सुख

नही मिलता। लक्ष्मी या शोभा स्वभाव से ही नष्ट होने वाली हैं।"

५ अश्रिया जडधिय· कटाक्षिता· कि तदस्ति न समाचरन्ति यत्।।१४/५६।।

"कुलक्ष्मी की दृष्टि में पडे मूर्ख लोग, ऐसा कौन बुरा काम है जो नही कर सकते।"

६. अकुर्वतां सर्वजनार्तिखण्डन,

वृथा तडित्पल्लवचञ्चला श्रिय।।१७/१।।

"सब लोगों की आर्थिक पीडा को दूर न करने वालों की बिजली की लकीर के समान चञ्चल लक्ष्मी व्यर्थ हैं।"

राजनीतिक सूक्तियॉ—

१ न कैश्चिदपि लभ्यन्ते निष्कम्पा सुखसम्पद।।४/४६।।

"बेमौके ही चाण्डाल विधि ने राजा को दाहज्वर से पीडित कर दिया। कोई भी मनुष्य विघ्न रहित सुखसम्पत्ति को नही प्राप्त कर सकता है।"

२. उचिताचरणे केषां नोत्साहचतुरं मन।।४/६१।।

"मन्त्रियों ने राजा के इस वचन को तदनुसार ही स्वीकार किया। ऐसे कौन विचारशील लोग हैं जिनका मन उचित कार्य करने मे उत्साहित न हो।"

३ न कृच्छ्रेऽपि महाभागास्त्यागव्रतपराङ्मुखा।।४/६७।।

"और उस राजाने प्रसन्न चित्त से अपरिमित सुवर्ण के ढेरों का दान किया।

महाभाग्यशाली लोग कष्ट आने पर भी दानानुष्ठान से विमुख नही होते।"

४ त्यागो हि नाम भूपानां विश्वसवननौषधम्।।४/११०।।

"अत्यन्त लोभी उस राजा सोमदेव से सब प्रजा विरक्त हो गयी अर्थात् उससे कोई स्नेह नहीं रखता था। क्योकि राजाओ मे लोभ रहित दानादि क्रिया ही ससार के समस्त प्राणियो को अपने वश मे कर लेने की प्रधान औषधि है।"

५ कि लक्ष्मीसुखमुग्धानामसंभाव्यं दुरात्मनाम्।।४/१११।।

"राजा सोमदेव अपने किये हुए प्रजापीडनादि बुरे कार्यों मे कुमार विक्रमाङ्कदेव की भी सम्मति है ऐसा प्रकट करने लगा अथवा राजा सोमदेव कुमार विक्रमाङ्कदेव को मार डालने की भी इच्छा करने लगा। अथवा राजा सोमदेव कुमार विक्रमाङ्कदेव की अच्छी सलाह को भी बुरी समझने लगा। क्योकि लक्ष्मी के सुख से मूढता को प्राप्त दुष्ट पापियों के लिये क्या अकर्त्तव्य है अर्थात् वे सब प्रकार के अन्याय के कार्य कर सकते हैं।"

६. राज्यग्रहगृहीतानां को मन्त्र कि च भेषजम्।।४/११५।।

"कुमार विक्रमाङ्कदेव अपने बडे भाई के दुराचार को न रोक सका। राज्यरूपी क्रूर ग्रह से या पिशाचादि से ग्रहीत या आविष्ट राजाओ के लिये न कोई मंत्र है न दवा है।"

७. किं न सम्भवति चर्मचक्षुषां कर्म लुब्धमनसामसात्त्विकम्।।५/५।।

"इसके अनन्तर पीडित हृदय सोमदेव ने विक्रमाङ्कदेव के पीछे एक बड़ी

पलटन भेज दी। चर्मचक्षु अर्थात् अदूरदर्शी तथा लोभी मनुष्य कौन तामसिक कार्य नही कर सकते अर्थात् वे सब प्रकार के दुष्कर्म कर सकते हैं।"

८ अप्रतर्क्यभुजवीर्यशालिन· सङ्कटेप्यगहनास्तथाविधा ।।५/६।।

"अनीति रूपी कीचड से शङ्कित विक्रमाङ्कदेव ने सेना के पास मे आ जाने पर भी उसका संहार नहीं किया। क्योंकि कल्पनातीत भुजबल से शोभित विक्रमाङ्कदेव जैसे लोग आपत्ति आ जाने पर भी घबडाते नही।"

९. वारणः प्रतिगजं विलोकयस्तद्विमर्दरसमासलस्पृह ।

आददे न विशद नदीजल शीलमीदृशममर्षशालिनाम्।।५/१२।।

"विरोधी हाथी को देखकर उसको घर दबाने के रस या जल की उत्कट इच्छा रखने वाले विक्रमाङ्कदेव के हाथी ने तुङ्गभद्रा नदी के निर्मल जल का पान नहीं किया। क्रोधियो का स्वभाव ही ऐसा होता है।"

१० दूषणं हि मुखरत्वमर्थिनाम्।।५/१३।।

"विक्रमाङ्कदेव के हाथी ने भौरो की भनभनाहट से घबडा कर पानी पीने की इच्छा न की। किन्तु पानी मे गोता लगाकर उनको तंग किया। क्योंकि अधिक बड–बड करना याचको का दोष है।"

११ यत्र तत्र भुजदण्डचण्डिमा चित्रमप्रतिहतो मनोभुवः।।५/१४।।

"हाथी ने पास ही मे विद्यमान एक हथिनी के लोभ से विपक्षी हस्ती को छोड दिया। क्या आश्चर्य की बात है कि कामदेव के भुजदण्ड के पराक्रम मे रोक–टोक

करने वाला कोई नही है। अर्थात् सभी जीव कामदेव के वशीभूत हैं।"

१२ आलुपेन्द्रमवदातविक्रमस्त्यक्तचापलमसाववर्धयत्।

दीपयत्यविनयाग्रदूतिका कोपमप्रणतिरवे तादृशाम् ।।५/२६।।

"लोकोत्तर पराक्रमशाली विक्रमाङ्कदेव ने विनीत आलुप प्रान्त के राजा का संरक्षण कर उसकी उन्नति की। औद्धत्य का सूचक शरणागत न होना ही विक्रमाङ्कदेव सदृश महानुभावो का क्रोध उत्पन्न करता है।"

१३ प्लावनाय जगतः प्रगल्भते नो युगान्तसमय विनाम्बुधि.।।५/३६।।

"क्षत्रिय जाति, तुम्हारे ऐसे विजय की इच्छा रखने वाले के बिना असाध्य कार्य की सिद्धि करने मे समर्थ नही हो सकती। समुद्र प्रलय काल के बिना जगत् को पानी के अन्दर डुबाने मे समर्थ नही होता।"

१४ केसरी वसति यत्र भूधरे तत्र याति मृगराजतामसौ।।५/३८।।

"अथवा सम्पूर्ण पृथ्वी के स्वामी, तुमको अपनी पृथ्वी की अर्थात् राज्य की क्या परवाह है। शेर जिस पर्वत पर जा बैठता है वहीं वह मृगराजपद को प्राप्त कर लेता है।"

१५. तेन तस्य वचनेन चारूणा प्राप कुन्तलपतिः प्रसन्नताम्।

तीव्ररोषविषवेगशान्तये भेषज विनय एव तादृशाम्।।५/४७।।

"कुन्तलदेशाधिपति विक्रमाङ्कदेव, द्रविड देश के राजा के दूत की पूर्वोक्त मीठी बातों से प्रसन्न हो गया। ऐसे महापुरूषो के तीव्र क्रोध रूपी विष के वेग को रोकने

के लिये केवल विनय ही औषध है।"

१६. कामुकेषु मिषमात्रमीक्षते नित्यकुण्डलितकार्मुकः स्मर ।।५/४८।।

"यह विक्रमाङ्कदेव द्रविड देश के राजा की चन्द्रवदनी कन्या कैसी होगी इस विचार से चिन्तित हो उठा। कामियो के प्रति सदा धनुष सज्ज रखने वाला कामदेव, कामियो को पीडित करने मे कोई बहाना ही खोजता रहता है।"

१७. वेत्ति कश्चरितमुन्नतात्मनाम्।।५/५२।।

"बार-बार दिग्विजय करने मे लम्पट मैंने उस द्रविड देश के राजा का क्या प्रिय किया है। तो भी वह मुझसे घनिष्ठ प्रेम रखता है। महात्माओं के चरित्र को कौन समझ सकता है।"

१८. कार्यजातमसमाप्य धीमता निद्रया परिचयोऽपि कीदृश.।।५/७३।।

"वह चोलदेश का राजा रास्ते मे कही बिना विश्राम लिये कुछ ही दिनों मे तुंङ्गभद्रा नदी के पास पहुँच गया। बुद्धिमान् लोगो को बिना कार्य समाप्त किये निद्रा का परिचय कैसा? अर्थात् बुद्धिमान लोग बिना सम्पूर्ण कार्य पूरा किए विश्राम नहीं लेते।"

१६. यशसि रसिकतामुपागतानां तृणगणना गुणरागिणां धनेषु।।६/२

"कुन्तलदेश के राजा आहवमल्लदेव के पुत्र विक्रमाङ्कदेव ने भी द्रविड राजा के अपरिमित वित्त को याचकों को दे दिया। यश में रसिकता रखने वाले गुणग्राही जन, धन को तृणवत् समझते हैं।"

२०   कुसुममृदूनि मनासि निर्मलानाम्।।६/३।।

"केवल गुणो से ही स्नेह करने वाला, पृथ्वी भर के लोगो को सुख देने वाला विक्रमाङ्कदेव, अपने आदर की सिद्धि से प्रसन्न चित्त, द्रविड राजा के चले जाने पर क्षण–क्षण मे उसके लिये उत्कण्ठित होता था। स्वच्छ हृदय वाले मनुष्यो के मन, फूल के ऐसे कोमल होते हैं।

२१   अवतरति मतिः कुपार्थिवाना सुकृतविपर्ययत· कुतोऽपि तादृक्।

झटिति विघटते यया नृपश्रीस्तटगिरिसघटितेव नौ· पयोधेः।।६/२६।।

"दुश्चरित्र राजाओ के पाप से उनमें न जाने कहां से ऐसी बुद्धि अर्थात् कुबुद्धि आ जाती है जिससे राजलक्ष्मी, समुद्र के किनारे के पर्वतों से टकराई हुई नाव के समान शीघ्र नष्ट हो जाती है।

२२.   व्रतमिदमिह शस्त्रदेवताना दृढमधुनापि कलौ निरङ्कुशेऽपि।

अविनयपथवर्तिन यदेता प्रबलमपि प्रधनेषु वञ्चयन्ति।।६/३०।।

"इस जगत् मे इस निरड्कुश कलियुग में भी, शस्त्रों के अधिष्ठातृ देवताओं का सम्प्रति भी यह निश्चित नियम है कि वे अनीतिमार्गारूढ बलवान् से बलवान् को भी युद्धो मे धोखा देती हैं। अर्थात् उनका साथ नहीं देती।"

२३   सकलमपि विदन्ति हन्तशून्य क्षितिपतय· प्रतिहारवारणाभिः।

क्षणमपि परलोकचिन्तनाय प्रकृतिजडा यदमी न संरभन्ते।।६/३२।।

"दुःख की बात है कि ये दुष्ट राजा लोग द्वारपालों को रोकने से भीतर किसी

का प्रवेश न होने के कारण भीतर एकान्त होने से सम्पूर्ण जगत् को शून्य अर्थात् अपने को छोडकर दूसरा कोई भी इस जगत् का नियन्ता नहीं है– ऐसा समझने लगते हैं। क्योकि ये स्वाभाविक मूर्ख राजागण इस लोक को छोडकर परलोक मे जाने पर उनकी क्या दशा होगी इसका क्षण भर भी विचार नहीं करते। अथवा 'सर्वशून्य' मानकर बौद्ध हो जाते हैं। इसीलिये पुनर्जन्म नहीं मानते।"

२४ गुणिनमगुणिन वितर्कयन्ती स्वजनममित्रमनाप्तमाप्तवर्गम्।

वितरति मति विप्लव नृपाणामियमुपसर्पणमात्रकेण लक्ष्मी.।।६/३६।।

"यह राजलक्ष्मी पास मे आते ही राजाओं मे गुणी को गुणरहित, मित्र को शत्रु और विश्वासपात्रो को अविश्वासपात्र समझने का भाव उत्पन्न कर उनकी बुद्धि मे भ्रम उत्पन्न कर देती है।"

२५. क्षणमनुगुणमैक्षत प्रहर्तुं मलिनधियां धिगनार्जवं चरित्रम्।।६/६१।।

"मिथ्याभाषी, कुलाङ्गारता को प्राप्त यह सोमदेव तो विक्रमाङ्कदेव की प्रार्थनाओं को सैकडो कसमें खा, स्वीकार कर, उसको मार डालने के लिये अनुकूल मौका खोजता था। मलिन बुद्धि वालो के चरित्र को धिक्कार है जो कि सर्वदा कौटिल्यपूर्ण होता है।"

२६. यशसि रतिर्महता न देहपिण्डे।।६/७७।।

"किसी वीर ने मरणासन्न अवस्था में भी युद्ध मे घुसकर विपक्षी वीर के मस्तक पर लात देकर अपने जीवन का फल भी प्राप्त भया समझा। बड़े लोगों का प्रेम यश मे होता है शरीर में नही।"

२७ विमलविजयलालसा खलानामवसरमल्पमपि प्रतिक्षिपन्ति।।६/७८।।

"कवच को उतार कर रख देने वाले और मल्लयुद्ध को तैयार विपक्षी योद्धा को देखकर कोई वीर अपना कवच उतार कर मल्लयुद्ध के लिये तैयार होकर टहलने लगा। विशुद्ध विजय से प्रेम रखने वाले वीर खलो को निन्दा करने का थोडा भी अवसर नही देते।

२८ भङ्गमेति भवितव्यता कुत।।१४/२२।।

"राजा विक्रमाङ्कदेव के इस प्रकार कहकर, सैकडो सान्त्वना के प्रस्ताव सिंहदेव के पास भेजने पर भी वह, उसको अन्याय पथ से हटाने में समर्थ न हो सका। होनहार (होनी) कैसे टल सकती है।"

धार्मिक सूक्तियाँ–

१ किमश्वमेधप्रभृतिक्रियाक्रमै सुतोऽस्ति चेन्नोभयलोक बान्धव.।

ऋण पितृणामपनेतुमक्षमा· कथ लभन्ते गृहमेधिन शुभम्।।२/३४।।

"यदि इस लोक और परलोक दोनो मे साथ देने वाला पुत्र न हुआ तो अश्वमेध आदि यज्ञो के करने से क्या लाभ है। पितृऋण से मुक्त होने में असमर्थ गृहस्थ लोगो का कैसे कल्याण हो सकता है।"

२. परां प्रतिष्ठा लिपिषु क्रमेण जगाम सर्वासु नरेन्द्रसूनुः।

पुण्यात्मनामत्र तथाविधाना निमित्तमात्र गुरवों भवन्ति।।३/१७।।

"वह राजपुत्र धीरे–धीरे समग्र वर्णमालाओ को अच्छी तरह से जान गया। इस

ससार में ऐसे पुण्यात्माओ के शिक्षकगण केवल निमित्त के लिये ही होते हैं।"

३.　प्रणयिषु शुभचेतसा प्रसाद प्रसरति सन्ततिमप्यनुग्रहीतुम।।६/६।।

"उसने द्रविडराज की लडकी को तीनो लोको में दुर्लभ सम्पत्ति दी। अपने स्नेहियो के सम्बन्ध मे कल्याण करने की चित्तवृत्तिवालों की कृपा, उनके कन्या पुत्रादि पर भी हो जाती है।"

४　त्रिभुवनमहनीय बाहुवीर्यद्रविणविभूति मतां किमस्त्यसाध्यम्।।६/६१।।

"तीनो लोकों मे पूजनीय बाहुबल, धन और ऐश्वर्य से युक्त असाधारण पुरुषो के लिये कौन कार्य असाध्य है, अर्थात् कोई भी कार्य असाध्य नहीं है।"

५　दासी यद्भवनेषु विक्रमधनक्रीता ननु श्रीरिय।

तेषामाश्रितपोषणाय गहनं कि नाम पृथ्वीभुजाम्।।६/६६।।

"जिन राजाओ के घरो मे पराक्रम रूप धन से खरीदी हुई यह लक्ष्मी निश्चयपूर्वक दासी बन कर रहती है, उन राजाओं को अपने आश्रितों का (सोमदेव तथा अन्य महाकवि गुणी आदि का) पालन पोषण करना क्या कठिन है।"

६　भाग्येषु नास्ति प्रतिषेधमार्ग.।।१०/४१।।

"दैव की अनुकूलता रहने पर सुखप्राप्ति में किसी प्रकार की रूकावट नहीं हो सकती है।"

७　यत्स्वकार्यमवधीर्यगृह्णते सेवयैव परितोषमीश्वरा·।।१४/२।।

"क्योकि प्रभु लोग अपना काम हो या न हो इसकी कुछ भी परवाह न कर

केवल सेवक लोगों की सच्ची सेवा से ही सन्तुष्ट होते है।"

८ यत्रमन्त्रगतिरेतिवामता तत्र हालहलतो विशिष्यते।।१४/३।।

"जहॉ षाड्गुण्य रूप सन्धि विग्रहादि मन्त्र अपना विपरीत प्रभाव दिखाता है। वहॉ ऐसा होना महाविष के समान ही भयङ्कर है। अर्थात् जिस प्रकार जहर धीरे–धीरे बढकर अन्त मे प्राण ले लेता है उसी प्रकार विपरीत प्रभाव वाला मंत्र अन्त में उत्तर काल को नष्ट कर देता है।"

६. क· प्रसन्नमनसा यशोर्थिना श्रीसमर्पणविधौ परिश्रमः।।१४/४८।।

"यश की कामना रखने वाले प्रसन्नचित्त मनुष्यों के लिये लक्ष्मी का त्याग करने मे क्या काठिन्य है।"

१०. तेजस्विनोऽपि कुर्वन्ति किं कालवश मागताः।।१६/१५।।

"कालचक्र मे पड जाने पर बड़े प्रतापी लोग भी क्या कर सकते हैं। अर्थात् कुछ भी नही कर सकते।"

११. फलन्त्यत्नेन मनोरथद्रुमा ।।१७/६।।

"अनुपम पुण्यशाली लोगो के मनोरथरूपी वृक्ष बिना प्रयास के ही फलने लगते हैं।"

सहायकग्रन्थनामानि

सहायकग्रन्थनामानि

१. अर्ली हिस्ट्री ऑफ दक्कन (जी याजदानी)

२ आरकैलोजिकल सर्वे आफ इण्डिया– भारतीय पुरातत्व विभाग द्वारा प्रकाशित।

३ एन्सेन्ट ज्योग्रैफी ऑफ काश्मीर– काश्मीर पर निकलने वाला पत्र

४ एन्सेन्ट ज्योग्रैफी ऑफ इण्डिया (कनिङ्घम)

५ एन्सेन्ट इण्डिया (वी.डी महाजन)

६. दक्षिण भारत का इतिहास (डॉ एच एन. दुबे)

७ प्राचीन भारत (परमेश्वरी लाल गुप्त)

८ प्राचीन भारत (रमेश चन्द्र मजूमदार)

९ प्राचीन भारत मे नगर तथा जीवन– डॉ० रामस्वरूप शर्मा

१० बाम्बे गजेटियर– बम्बई से प्रकाशित पत्र

११ राजतरगिणी– कल्हण

१२ हिस्टोरिकल ज्योग्रेफी आफ एन्शेन्ट इण्डिया– डॉ० विमलशरण झा, फ्रांस, १९५४।

१३ विक्रमाङ्कदेवचरितचर्चा– आनन्द शङ्कर शास्त्री

१४. विक्रमाङ्कदेवचरितम् (डॉ० व्यूह्लररस्य)

१५. विक्रमाङ्कदेवचरितम् (भारद्वाजमहोदयस्य)

१६. विक्रमाङ्कदेवचरितम् (मु० ला० शर्मणाम्)

१७ विक्रमाङ्कदेवचरितम् (रामचन्द्र शर्मा)

१८. विक्रमाङ्कदेवचरितम् साहित्यिक सर्वेक्षणम् (डॉ० प्रियतमचन्द्र शास्त्री)

१९. संस्कृत साहित्य का इतिहास– डॉ० कपिल देव द्विवेदी

२०. संस्कृत साहित्य का इतिहास– डॉ० बलदेव उपाध्याय

२१ सस्कृत साहित्य का इतिहास– डॉ० मङ्गलदेवशास्त्री

२२ हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल सस्कृतलिट्रेचर– एम्० कृष्णमाचारियर।